भाग १

अमृतवाणी

गूढ़ पदों के सन्देश

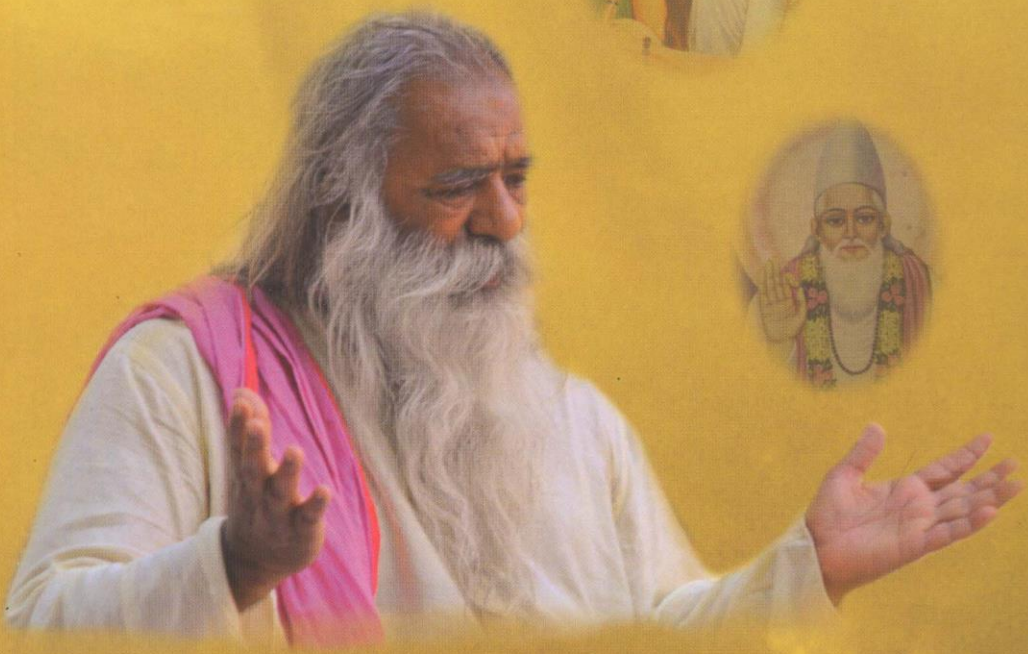

स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी महाराज

।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ।।

अमृतवाणी

पूज्य स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज के
मुखारविन्द से निःसृत अमृतवाणियों का संकलन

भाग – 1

प्रकाशक :
श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास)
अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069

अनन्तश्री विभूषित,

योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया-चित्रकूट

के परम पावन चरणों में

सादर समर्पित

अन्तःप्रेरणा

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वेष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
जय सद्गुरु.....भारी।।

।। ॐ ।।

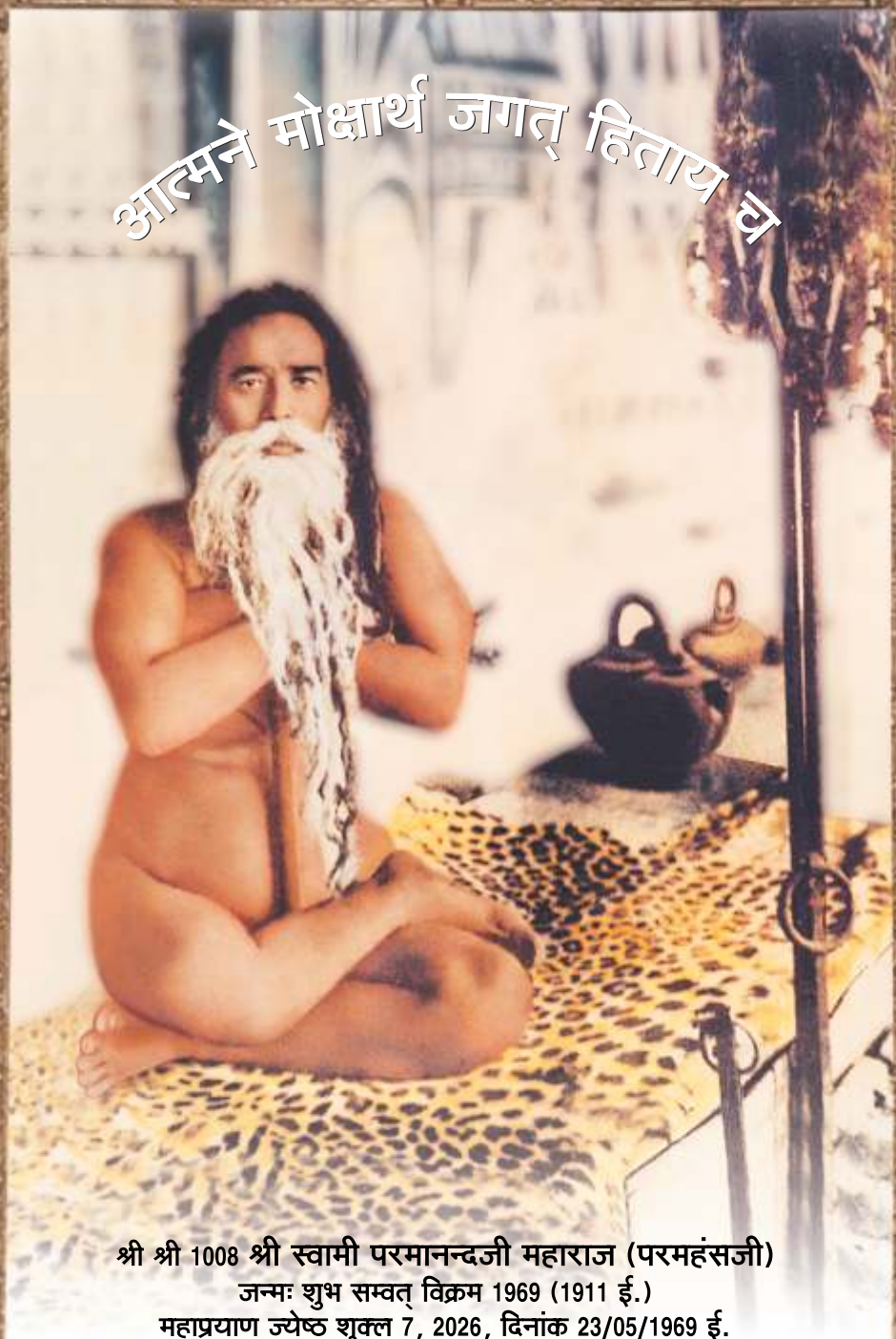

श्री श्री 1008 श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्मः शुभ सम्वत् विक्रम 1969 (1911 ई.)

महाप्रयाण ज्येष्ठ शुक्ल 7, 2026, दिनांक 23/05/1969 ई.

परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट

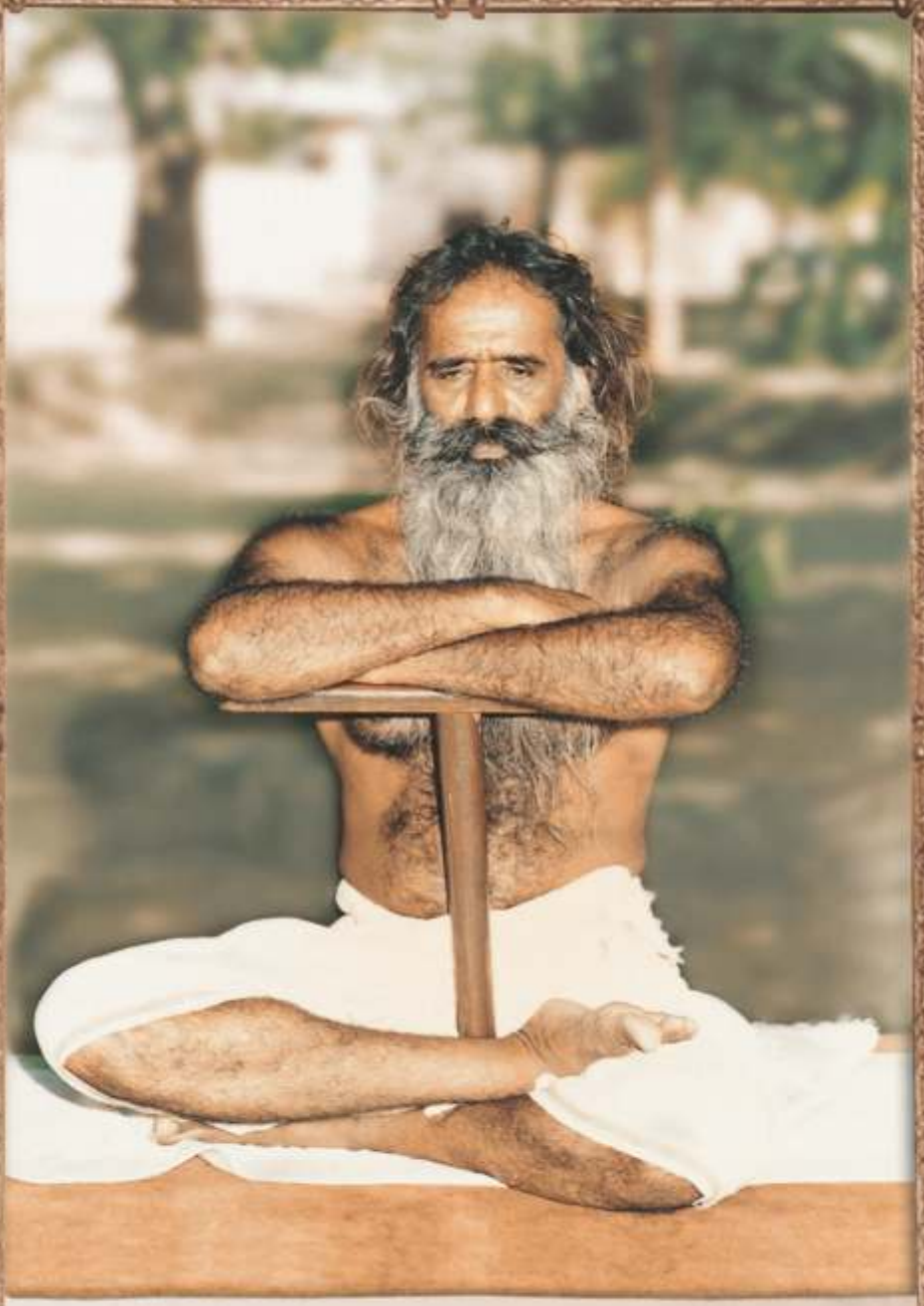

श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज

निवेदन

धर्मानुरागी बहनो तथा भाइयो!

शास्त्र के मूल आशय को वही महापुरुष जानता है, समझ सकता है जो उस क्रियात्मक पथ पर चला हो। शास्त्रों के मूल आशय को न समझने के कारण ही मनुष्य संकीर्णतावश छोटे-छोटे दायरों में संकुचित हो गया है, एक-दूसरे का कट्टर विरोधी बन गया है। इस पूर्वाग्रह एवं दुराग्रह के परिणामस्वरूप बुद्धि इतनी कुण्ठित हो गयी है कि सत्य को सुनने एवं समझने की न क्षमता रह गयी है, न रुचि या क्रियान्वित करने का साहस!

तत्त्वदर्शी सन्तों ने समाज में संकीर्णता एवं भेदभाव के बीज कभी नहीं बोये बल्कि मानव-मात्र को स्नेहिल दृष्टि से देखा और उपदेशों के माध्यम से करुणा बरसायी। आपके बीच ऐसे ही सन्त उपस्थित हैं जिनकी वाणी सुनने से सारा भेदभाव एवं भ्रम मिट जाता है। आपकी वाणी में विश्व के सभी धर्मशास्त्रों के यथार्थ रूप को सरलता से बोध करा देने की एक अद्‌भुत क्षमता है जो मानव के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त किये बिना नहीं मिल सकती।

महान् सन्त कबीर तथा अन्यान्य सन्तों की गूढ़ वाणियों का यथार्थ स्वरूप श्रीमुख से सुनने के पश्चात् भक्तों ने अनुरोध किया कि कैसेट के अतिरिक्त इसे पुस्तक के रूप में भी दिया जाय जिससे आबाल-वृद्ध अपने घरों में भी इसे पढ़ सकें। इस अनुरोध को महाराजश्री ने स्वीकार कर मानवमात्र पर असीम कृपा की है। इस अमृतवाणी के अनुशीलन से एक लम्बे अरसे से

आप सबके मन-मस्तिष्क में बैठी परस्पर विरोधी धारणाओं को सुलझाने तथा सत्पथ पर अग्रसर होने में भरपूर सहायता मिलेगी।

परम आराध्य श्री सद्गुरुदेव जी महाराज की इस वाणी के संग्रह का शुभारम्भ मुंबई स्थित बोरीवली, सुमेर नगर की जनसभा दिनांक 10 जनवरी 1993 से किया गया जो विभिन्न समय एवं स्थलों पर महाराजश्री के प्रवचनों को संकलित करते हुए अद्यतन अविरल प्रवाहित है।

विश्वास है कि आप इस महान् गुरुकृपारूपी 'अमृतवाणी' को मनोयोग से सुन-समझकर अपने जीवन में इसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न करेंगे।

***निवेदक* - प्रकाशक**

अनुक्रमणिका

अमृतवाणी : कैसेट संख्या- 1

1. नैहर दाग लगल मोरि चुनरी 1
2. बलम राउर देशवा में चुनरी बिकाय 13
3. सदगुरु ज्ञान बदरिया बरसे 19
4. शब्द सो प्रीति करै सोई पावै 26

अमृतवाणी : कैसेट संख्या- 2

5. अड़गड़ मत है पूरों का 36
6. बहुरि न अइहैं कोऊ शूरों के मैदान में 50
7. छाओ छाओ हो फकीर गगन में कुटी 55

अमृतवाणी : कैसेट संख्या- 3

8. तवन घर चेतिहे रे भाई 70
9. का कहीं, केसे कहीं 83
10. साईं के संग सासुर आई 90

अमृतवाणी : कैसेट संख्या- 4

11. भजन किसका, कैसे और क्यों? 101

।। ॐ ।।

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 1:1)

नैहर दाग लगल मोरि चुनरी

ॐ जय गुरुदेवम् जय गुरुदेव!

ॐ अशरण शरण शरण प्रभु लेव,
ॐ जय गुरुदेवम् जय गुरुदेव!

राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता॥

(रामचरितमानस, 1/165/6)

गुर के बचन प्रतीति न जेहीं। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही॥

(रामचरितमानस, 1/79/8)

कबीर वे नर अन्ध हैं, गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर॥

!! बोलिये श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय!!

आप सबकी जिज्ञासा पर प्रस्तुत है कबीर के एक भजन का आशय! पद की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

नैहर दाग लगल मोरि चुनरी॥

पहिन ओढ़ि गोरी चली ससुरारी,
मायके के लोग कहैं बहू फुहरी। नैहर दाग.....॥

यह चुनरी धोबी घर पठइन,
बहुत धुलायो तबौं न भई उजरी। नैहर दाग.....॥

उजली क्यों नहीं हुई? इस पर कहते हैं–

भाई बरेठा दूर बसत हैं,
साबुन महँग बिकाय वहि नगरी। नैहर दाग.....॥
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो!
एहि जनम की बिगरी कबौं ना सुधरी। नैहर दाग.....॥

यह सन्त कबीर का भजन है। कबीर एक महापुरुष थे– वैसा ही महापुरुष जैसा अनादिकाल से होते आये हैं। वह पूर्ण पुरुष थे। संत कबीर ने जब अपनी वाणी का प्रसार किया, लोगों ने उन्हें आड़े हाथों लिया कि यह तो अनपढ़ है, गँवार है; किन्तु इससे उन सन्त की लोकप्रियता कम नहीं हुई।

लोगों ने अटकल लगाया कि यह भी कविता रचने की कोई शैली है, तो उन्होंने कबीर के नाम से अश्लील रचनाएँ करनी शुरू कर दीं जो प्रायः फाल्गुन मास में होली के अवसर पर यत्र-तत्र आज भी सुनने को मिल जाती हैं। इन सबके होते हुए भी उनकी वाणी का प्रभाव कम नहीं हुआ।

कबीर के अनेक पदों को 'उलटवाँसी' कहा जाता है। उलटवाँसी– जो सुनने में विपरीतार्थक, अटपटा प्रतीत हो या जिसके कई अर्थ होते हों। आप जो अर्थ कहें वह सही, हम उससे भिन्न अर्थ बतावें तो वह भी सही और कोई कुछ कह गुजरा तो वह भी सही! मान लें, हमें नासिक जाना है। किसी ने कहा- पूरब जाइये; दूसरे ने कहा- नहीं, पश्चिम जाइये; तीसरे ने कहा 'उत्तर' तो चौथे ने दक्षिण जाने का निर्देश दिया। कदाचित् आप विपरीत दिशा में चल पड़ें तो शायद इस जीवन में कभी नहीं पहुँच पायेंगे। अस्तु उलटवाँसी नाम की किसी शैली का प्रवर्तन उन्होंने नहीं किया। सन्त कबीर ने सीधा-सटीक उपदेश दिया है किन्तु समझ में न आने से लोगों ने उलटवाँसी कहा। कबीर ने उस वैदिक तथ्य को, आँखों देखे हाल को छिपाकर प्रस्तुत किया जिससे अधिकारी समझ लें और अनधिकारी दुरुपयोग न करें। उन्होंने जो अनुभव में पाया था वह प्रस्तुत किया। यह अनुभवगम्य है इसलिए समझ में न आने से लोग कुछ भी कह सकते हैं।

वह महापुरुष यह भी जानते थे कि मैं जिस स्तर की बात कहता हूँ, उसको समझने की क्षमता सबमें नहीं हो सकती। इस विशाल जनसमूह में जिनमें वह क्षमता पायी गयी, उनको उद्देश्य बनाकर सन्त कबीर ने अपनी वाणी का प्रसार किया; जैसे– '**कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो!**', '**अवधू! बेगम देश है मेरा।**' अथवा '**कोई पण्डित ज्ञानी।**'। लगभग 95 प्रतिशत पद कबीर के ऐसे हैं जो सन्तों को उद्देश्य बनाकर प्रसारित किये गये हैं। वह जानते थे कि इस सूक्ष्मता को वही पकड़ सकते हैं जो इस पथ पर चलनेवाले हैं।

कबीर कोई सम्प्रदाय प्रवर्तक नहीं थे। जब वह अपने स्वरूप की मस्ती में आये तो लोगों ने कहना आरम्भ किया कि कबीर साहब सिद्धपुरुष हैं, उनकी वाणी में ओज है, उनकी शरण में जाने से अमुक लाभ हुआ– किसी को सन्तान की प्राप्ति हुई तो किसी की दरिद्रता दूर हो गयी। कबीर साहब ऐसे, कबीर साहब वैसे! सन्त कबीर के संज्ञान में आया तो वह हँस पड़े और बोले–

कबिरा कबिरा क्या करे, सोधो सकल सरीर।
आसा तृष्णा वश करे, सोई दास कबीर॥

कबीर अच्छे....कबीर महात्मा....! क्या रट लगा रखा है! सम्पूर्ण शरीरों की शोध करो! सकल अर्थात् बहुत से शरीर होने चाहिए। जो दृष्टिगोचर होता है वह आपका स्थूल शरीर है। पंचभूतों से निर्मित यह एक शरीर है। इसके अन्तराल में है सूक्ष्म शरीर जो मन का संसार है और उसके भी अन्तराल में एक शरीर और है– कारण शरीर, जिसके द्वारा सूक्ष्म शरीर संचालित होता है– परमात्मा की वह प्रशक्ति जो सबको धारण करके स्थित है; क्रमशः तीनों शरीरों की शोध कर लो। किन्तु आशा और तृष्णा के रहते वह शोध सम्भव नहीं है। इसलिए '**आसा तृष्णा वश करे, सोई दास कबीर।**'– इतना हमने किया है इतना आप भी कर लें, आप भी कबीर हैं। इस प्रकार कबीर एक स्थिति है न कि कोई अकेला व्यक्ति! कबीर आपकी सम्भावना हैं, प्रेरणा हैं। हर महापुरुष यही है।

कबीर की भाषा समझ में नहीं आती तो लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि वह निर्गुण उपासक थे लेकिन सृष्टि में निर्गुण नाम की कोई उपासना होती ही नहीं– न कभी थी, न है और न कभी भविष्य में होगी। प्रत्येक महापुरुष सगुण से ही चलता है और चलकर जब उन प्रभु के अंक में प्रवेश पा जाता है तो अपने को गुणातीत स्थिति में पाता है। यह सन्तों की एक रहनी है न कि उपासना। संत कबीर की ही साखी देखें–

साहिब का घर दूर है, लम्बा पेड़ खजूर।
चढ़े तो चाखे राम रस, गिरे तो चकनाचूर॥

परमात्मा का घर कहीं बहुत दूर है, साधक स्वयं कहीं अलग खड़ा है। '**चढ़े तो चाखे राम रस**'- चढ़ना शेष है और '**गिरे तो चकनाचूर**'- प्रभु अलग, अपने अलग! चढ़ना और गिरना लगा हुआ है तो आप ही विचार करें कि सगुण उपासक के और क्या लक्षण होते हैं! यही तो कि परमात्मा कहीं अन्यत्र हो, हम अलग हों और शोध बाकी हो। कबीर की उपासना का आरम्भ सगुण से था। निर्गुण तो प्राप्ति के पश्चात् संतों की रहनी है। सगुण साहब का घर ढूँढ़ने वाले कबीर एक दिन घर पा गये, प्रवेश भी पा गये, गुणातीत स्थिति भी मिल गयी। उसका उन्होंने चित्रण किया–

अवधू! बेगम देश है मेरा।
तहाँ न उपजे मरे न बिनसे, नहिन काल का फेरा॥

तहाँ न ईश्वर जीव न माया, पूजक पूज्य न चेरा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, नहिं तहँ द्वैत बखेड़ा॥

अवधूत! मेरा देश अगम है अर्थात् वाणी का, इन्द्रियों का विषय नहीं है– अनिर्वचनीय है। वहाँ न ईश्वर है न जीव, न माया है और न पूजने योग्य सत्ता है, न पूजनेवाला पथिक। आप ही विचार करें, कौन किसकी पूजा करेगा? अंततः वहाँ है क्या? कुछ शेष बचा? कबीर कहते हैं– हाँ, है। मेरा अस्तित्व है। '**नहिं तहँ द्वैत बखेड़ा**'- वहाँ द्वैत नहीं है अर्थात् मैं हूँ। वहाँ माया और ईश्वर दोनों की भिन्नता समाप्त हो जाती है। यह तीनों गुणों से

अतीत संतों की एक रहनी है। निर्गुण एक प्रमाण-पत्र (सर्टिफिकेट) और स्थिति है, न कि कोई उपासना! सबको सगुण से ही चलना होगा। कबीर के चिन्तन का नाम 'राम' था–

जीव शीव सब प्रकटे, वे ठाकुर वे दास।
कबीर और जाने नहीं, एक राम नाम की आस॥

इधर जीवों की अपार शृंखला है, उधर कल्याणतत्त्व शिव की मान्यता है। कबीर किसी को नहीं जानता। '**एक राम नाम की आस**'- केवल राम नाम से आशावान है। होंगे भगवान, लेकिन ढूँढ़ने का स्रोत तो नाम है! कबीर ने यह भी बताया कि नाम-जप रहस्यात्मक है–

राम नाम में अन्तर है। कहीं हीरा है कहीं पत्थर है॥

नाम का निराकरण कर लेना चाहिए कि नाम है किस प्रकार! कहीं हम पत्थर में ही जीवन न काट लें। इतना बड़ा अन्तराल! '**रा और म के बीच में कबिरा रहा लुकाय**'- इन दोनों अक्षरों के अन्तराल में कबीर सिमट गया।

राम नाम अति दुर्लभ, औरन ते नहिं काम।
आदि अंत औ युग-युग, रामहिं ते संग्राम॥

राम नाम अत्यन्त दुर्लभ है। तो छोड़ें झंझट, क्यों परेशान होते हैं! किन्तु कबीर कहते हैं, '**औरन ते नहिं काम**'– दूसरे किसी विधि से कार्य-सिद्धि होगी नहीं, कल्याण सम्भव नहीं। इसलिए 'आदि' अर्थात् भजन की शुरुआत, 'अन्त' अर्थात् प्राप्तिकाल– इन दोनों के बीच चाहे युग-युगान्तर बीत जायँ, जन्म-जन्मान्तर बीत जायँ; यदि संघर्ष है तो केवल राम से है। अर्थात् कबीर के चिन्तन का नाम 'राम' था। वह स्वयं इसे जपते थे और दूसरों को भी इसे जपने के लिए प्रेरित करते थे।

राम न रमसि कवन दण्ड लागा।
मरि जइबे का करिबे अभागा॥

रे हतभाग्य! राम का भजन क्यों नहीं करते हो? '**कवन दण्ड लागा**'- इसमें कौन-सा कर देना पड़ता है? मर जाओगे तब क्या होगा? इस दुर्लभ मानव-तन को तुमने व्यर्थ खो दिया! '**अबकी पासा ना पड़ा, फिर चौरासी जाय।**'- इस शरीर से भवसागर पार नहीं कर लिया तो पुनः चौरासी लाख योनियों का चक्कर लगाना पड़ेगा। इस प्रकार कबीर के चिन्तन का नाम राम! इष्ट एक परमात्मा! किन्तु जब किसी ने पूछा– हजरत क्या कर रहे हो? तो वे बोले– मैं अपने पिया को प्रसन्न करने में लगा हूँ– '**प्रियतम मोसन रूठल हो।**'

परमात्मा को उन्होंने प्रियतम कहा, साईं और पति कहकर सम्बोधित किया। प्रियतम- 'प्रिय उत्तम' से प्रियतम! जो प्रीति का सर्वोपरि माध्यम है। एक बार जिससे सम्बन्ध जुड़ जाने के पश्चात् फिर कभी विछोह नहीं होता।

'**मेरी पत राखो गिरधारी**'- पत कहते हैं मर्यादा को, इज्जत को। लोक-व्यवहार में मान-अपमान से इज्जत घटती-बढ़ती रहती है किन्तु आपकी आत्मा, जो परमात्मा का विशुद्ध अंश है, बार-बार मल-मूत्र से सनी हुई गर्भवास की अनन्त यातनाओं में भ्रमण कर रही है, इससे बड़ी बेइज्जती क्या होगी? इस अमर्यादित स्थिति से उबारकर शाश्वत, सनातन, अविनाशी शान्त जीवन प्रदान करने में यदि कोई सक्षम है तो वह मात्र परमात्मा है। इसीलिए कबीर ने उन आराध्यदेव को पति कहकर सम्बोधित किया। प्रायः प्रत्येक महापुरुष ने परमात्मा को पति कहने में संकोच नहीं किया। गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में, '**अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।**' *(रामचरितमानस, 3/10/21)*– यह अभिमान न जाय कि मैं सेवक हूँ, प्रभु राम मेरे पति हैं। प्रश्न उठता है कि सुतीक्ष्ण जी क्या स्त्री थे जो पति पा गये? वास्तव में पति परमात्मा के सहस्त्रों नामों में से एक नाम है जो इस जीवात्मा को मर्यादित स्वरूप प्रदान करता है।

अब आइए भजन की शुरुआत पर! आप स्त्री हों या पुरुष, भजन शरीर कभी नहीं करता। शरीर तो '**साधन धाम**'- भजन करने के लिए आपको स्थान मिला है इसलिए सन्तों ने इसे धाम या घर की संज्ञा दी।

आपसे अथवा माताओं से जब कभी भजन होगा तो पहले इष्टोन्मुखी लगन जागृत होगी। वह लगन या लव ही आपसे भजन करायेगी। यही है लवरूपी लड़की! इसी पर सन्त कबीर का यह भजन आधारित है– '**नैहर दाग लगल मोरि चुनरी।**'

अब लोग इसे उलटवाँसी न कहें तो क्या कहें? लोक में प्रचलित है कि '**यह दुनिया मेरे बाबुल का घर, वह दुनिया ससुराल।**'- यह संसार मायका है और परमात्मा का धाम ससुराल कहा जाता है। संसार में माता-पिता सयानी पुत्री के कौमार्य और मर्यादा की रक्षा करते हुए उसे सुयोग्य वर के हाथों सौंपते हैं। नैहर में कन्या के चरित्र पर उँगली उठे, यह स्वयं कन्या, माता-पिता तथा समाज के ऊपर बहुत बड़ा लांछन है; किन्तु सन्त कबीर कहते हैं कि '**नैहर दाग लगल मोरि चुनरी।**' आइए देखते हैं कि उनका आशय क्या है? वे कहना क्या चाहते हैं? उनकी दृष्टि में नैहर क्या है? दाग कैसा? दाग छुड़ाने का उपाय क्या है? तो–

नेह निभाया ही सरे, छोड़े सरे न आन।
तन दे धन दे सीस दे, नेह न दीजे जान॥

नेह कहते हैं स्नेह को! स्नेह का निर्वाह करने पर ही कल्याण है तभी सरेगा अर्थात् सफलता मिलेगी। स्नेह त्याग देने से कल्याण कभी सम्भव नहीं है इसलिए स्नेह के निर्वाह में तन देना पड़े, धन देना पड़े, यहाँ तक कि शीश देना पड़े किन्तु '**नेह न दीजे जान**'- स्नेह को न जाने दें। इस नेह के हरने वाले षड्विकारों का नाम है 'नैहर'। ईश्वर के प्रति स्नेह का अपहरण करने वाले शत्रु कौन हैं? यही काम-क्रोध, लोभ-मोह, षड् विकार, इन्द्रियों में स्थित राग और द्वेष! ये दुर्जय शत्रु हैं। स्नेह का अपहरण करने वाले इन दुर्जय शत्रुओं में फँसकर इस निर्मल चित्तरूपी चुनरी में दाग लग गया। अब वही झिझक है कि '**मैली चादर ओढ़ के कैसे, द्वार तुम्हारे आऊँ।**'

अनेक महापुरुषों ने चित्त के ही अन्तराल में सम्पूर्ण सृष्टि का समावेश पाया है। गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार–

विटप मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाये।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये॥

(विनयपत्रिका, पद 124)

एक वृक्ष में नाना प्रकार के काष्ठोपकरण (फर्नीचर) हैं, सूत में नाना प्रकार के वस्त्र बिना बनाये सदा ही रहते हैं, ठीक इसी प्रकार मन के अन्तराल में अनन्त सृष्टि के शरीरों की संरचना निहित है। जब जिस शरीर का संस्कार-क्रम आता है, उसी के अनुरूप बाहर रचना होती रहती है। संस्कार के अनुसार वैसा ही रूप मन बाहर फेंकता रहता है।

असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि, सब मनि महँ रह जैसे।
सरग नरक चर-अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे॥

(विनयपत्रिका, पद 124)

एक बहुमूल्य मणि में भोजन, वस्त्र, पशु, आवास-प्रवास, सवारी-साधन, मर्यादा सब विद्यमान हैं, मनचाही वस्तुएँ आप उससे क्रय कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार इस मन के अन्तराल में स्वर्ग, नरक, अपवर्ग, चर और अचर- सारी सृष्टि विद्यमान है। जब जिसका क्रम आता है पिण्डरूप में मन फेंकता रहता है। सभी प्रकार के चित्र इसी चित्त में चित्रित होते हैं। इस चुनरिया में सारे नक्शे विद्यमान हैं किन्तु सन्त कबीर की उक्ति है– '**नैहर दाग लगल मोरि चुनरी**'- स्नेह का अपहरण करने वाले काम-क्रोधादि षड्विकारों से विवश होकर निर्मल चित्त में दाग लग गया। जीवात्मा इस दाग को छुड़ाने का प्रयास करती है–

पहिन ओढ़ि गोरी चली ससुरारी।

ब्रह्मविद्यारूपी वस्त्र और आभूषणों से सज्जित होकर 'गोरी' अर्थात् इष्टोन्मुखी लगन 'ससुरारी' अर्थात् स्वरूप की ओर चली, 'स्व'सुरा में प्रवेश दिलाने को उद्यत हुई तो–

मायके के लोग कहैं बहू फुहरी।

मायके के लोग कन्या का ही पक्ष लेते हैं, उसे बहू नहीं कहते; किन्तु इस अध्यात्म पथ पर '**मायके के लोग कहैं बहू फुहरी**'- जिनकी दृष्टि माया तक ही सीमित है अथवा इस शरीर से जिनका मायिक सम्बन्ध, कुछ स्वार्थ छिपा है, वे लोग साधक-साधिका की निन्दा करते हैं कि यह फूहड़ है, मूर्ख है, बुद्धिहीन है! अभी उम्र ही क्या है! बच्चे ने अभी पाठशाला जाना आरम्भ किया है, उसे अपने पाँव पर खड़ा तो होने देते! ऐसी परिस्थिति नहीं है तो कहेंगे- वयोवृद्ध माता-पिता की सेवा तो करते! इससे करते नहीं बना, नासमझ है, जबकि वह विचारयुक्त कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार '**नैहर दाग लगल मोरि चुनरी**'- नेह-सनेह को हरने वाले राग-द्वेष, काम-क्रोध इन्हीं से आक्रान्त होकर निर्मल चित्त में दाग लग गया। ये ऐसे शत्रु हैं, बरबस घसीट ही लेते हैं। इनसे पार पाने को महापुरुषों ने युद्ध की संज्ञा दी है।

मान लें किसी ने युद्ध के लिए मन बना ही लिया, निरन्तर चिन्तन के लिए गृह-त्याग का विचार बनाया तो लोग फूहड़ की संज्ञा देने लगते हैं। क्या सद्गृहस्थ आश्रम में रहते हुए कोई उपाय नहीं है? कबीर अन्यत्र कहते हैं– '**सदगुरु धोबिया से परिचय नाहीं।**'। वस्त्र के दाग धोबी छुड़ा देता है। कदाचित् कपड़े का कोई दाग इन सांसारिक धोबियों से न छूटे किन्तु आपके चित्त पर जन्म-जन्मान्तरों के मल-आवरण और विक्षेप के दागों को सद्गुरु छुड़ा लेने में सक्षम हैं। उस दाग को छुड़ाकर, चित्त को भली प्रकार निर्मल कर इस चित्तरूपी चुनर में परमात्मा का प्रतिबिम्ब दिलाने में सद्गुरु समर्थ हैं। सद्गुरु ही धोबी हैं। इस चुनर को हमने धोबी के घर भेजा, सद्गुरु के आश्रम में भेजा, उनके समक्ष समर्पण किया; किन्तु–

बहुत धुलायो तबौं न भई उजरी। नैहर दाग लगल मोरि चुनरी।।

चित्तरूपी चुनरी को बहुत धुलाया– सत्संग सुना, टूटी-फूटी सेवा की, उनके उपदेश के अनुसार साधना आरम्भ किया, कुछ अनुभव मिलने लगे, अलौकिक आवाजें मिलने लगीं, दृश्य दिखायी देने लगे, मार्गदर्शन होने लगा, हमने-आपने श्रम भी किया, बहुत धुलाया फिर भी '**तबौं न भई**

उजरी'- जैसी उज्ज्वलता इसमें सुनी जाती है कि आत्मा अजर-अमर है, शाश्वत है, इसे शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता, वायु सुखा नहीं सकता, सदा रहने वाला और अपरिवर्तनशील यह आत्मा अविनाशी, शान्त और सम है– यह है इसकी निर्मलता! जैसी निर्मलता शास्त्रों में बतायी गयी है, वैसी निर्मलता देखने को नहीं मिली। इसका कारण बताते हैं–

भाई बरेठा दूर बसत हैं।

धोबी का पर्याय है बरेठा। बरेठा कहें चाहे धोबी! नैहर का भाई है तो समीप होना चाहिए किन्तु उलटा है कि '**भाई बरेठा दूर बसत हैं**'। सद्गुरु के दो रूप हैं– शरीर से तो सद्गुरु आँखों के सामने बैठे हैं लेकिन स्वरूप से उनकी रहनी आकाशवत् है। वह परमात्म-भाव में हैं, अद्वैत-अभिन्न स्थिति में उनका प्रवेश है– वह उनका स्वरूप है। वह स्वरूप हृदय में नहीं आ रहा है, अभी वह बहुत दूर है, सक्रिय नहीं है। सद्गुरु का स्वरूप सक्रिय नहीं हुआ तो उसे क्रियाशील करें! इसमें एक कठिनाई है–

साबुन महँग बिकाय वहि नगरी।

साबुन बड़ा महँगा है! साबुन में कौन-सी महँगाई है?–

जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥

सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

(रामचरितमानस, 5/47/4-5)

तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥

(रामचरितमानस, 5/47/3)

जननी अर्थात् माता, जनक अर्थात् पिता, बन्धु, सुत, प्रिय परिवार, हितैषी, धन-धाम– इन सबमें जो हमारा ममत्व का संचार है, उन सबके सूत्र समेटकर उनकी रस्सी बनाकर मन को मेरे चरणों में बाँध दे, तो परमात्मा राम कहते हैं– '**करउँ सद्य तेहि साधु समाना।**'- तत्काल मैं उसे साधु के

समानान्तर स्थिति दे देता हूँ, निर्मल पद प्रदान कर देता हूँ। यही साबुन की महँगाई है। माता-पिता, प्रिय परिवार, मर्यादा क्या छोड़ते बनता है? क्या इन सबकी आहुति देते बनता है? इतना मूल्य हम चुका ही नहीं पाते, इसे चुकाने में अपने को सक्षम नहीं पाते इसलिए उस नगरी का साबुन महँगा है।

जब साबुन इतना ही महँगा है कि इसका मूल्य चुकाने में हम अपने को सक्षम नहीं पाते तो छोड़िए झंझट! सन्त कबीर कहते हैं– नहीं, इसे छोड़ा नहीं जा सकता–

कहत कबीर सुनो भाई साधो!
एहि जनम की बिगरी कबहौं ना सुधरी।

सन्त कबीर कहते हैं– सज्जनों सुनें! यदि इस जन्म में बिगड़ गयी तो '**कबहौं ना सुधरी**'- मनुष्य योनि ही भवसागर से पार होने का उपाय है–

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मंदमति, आत्माहन गति जाइ॥

(रामचरितमानस, 7/44)

मनुष्य शरीर भवसागर पार होने के लिए जहाज है, उपाय है। परमात्मा कहते हैं कि मेरी अनुकूलता ही अनुकूल वायु है, सद्गुरु कर्णधार हैं, ड्राइवर हैं जो समुद्र पार करेंगे। ऐसा दुर्लभ साधन-समूह प्राप्त होने पर भी जो अपना परलोक सुधार नहीं लेता, वह मंदबुद्धि है और अपनी आत्मा का हत्यारा है। यही सन्त कबीर भी कहते हैं कि इस '**जनम की बिगड़ी**'- मनुष्य जन्म मिला और इसमें बिगड़ गयी तो '**कबहौं न सुधरी**'- तो फिर कभी नहीं सुधरेगा। अनन्त योनियाँ अवघट घाट हैं। अन्य किसी शरीर में पार होने का उपाय नहीं है। यहाँ तक कि देवयोनि में भी कोई उपाय नहीं है–

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

(श्रीमद्भगवद्गीता, 9/21)

देवता अपने सत्कर्मों के फलस्वरूप देवलोक प्राप्त करते हैं, विशाल उत्तम भोग भोगते हैं किन्तु पुण्य क्षीण होने पर गिरकर वहीं आ जाते हैं जहाँ से चलना आरम्भ किया था। वे नवीन साधना करके परमात्मा तक की दूरी तय नहीं कर पाते। देवता लोग भी मनुष्य शरीर से आशावान हैं। कारण? नहुष जब इन्द्रपद से च्युत हुआ तो उसे अजगर होना पड़ा। देवता जानते हैं कि वे कीट-पतंग कुछ भी हो सकते हैं। वे देवलोक से गिरेंगे तो किसी न किसी योनि में ही जायेंगे। इसलिए वे प्रार्थना करते हैं कि यदि गिरें भी तो प्रभु ऐसी कृपा करें कि उन्हें मानव-तन मिले। क्यों? इसलिए कि भवसागर से पार होने का उपाय एकमात्र मानव-तन ही है।

'**कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।**' *(श्रीमद्भगवद्गीता, 15/2)*

मनुष्य शरीर कर्मों का रचयिता है, कर्मों के अनुसार शुभ अथवा अशुभ बन्धन तैयार करता है।

इसलिए सन्त कबीर इस पद के अन्त में निर्देश देते हैं कि यदि ऐसा दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर भी भवसागर पार करते नहीं बना, ईश्वर-पथ में दस कदम रखते नहीं बना तो अनन्त योनियाँ तो केवल भोग भोगने के लिए हैं, भटकाव हैं। फिर तो '**कबहौं न सुधरी**'- अन्य किसी भी शरीर में सुधार की कोई सम्भावना नहीं है।

!! बोलिये श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 1:2)

बलम राउर देशवा में चुनरी बिकाय

चुनरी पर ही सन्त कबीर का एक अन्य पद इस प्रकार है–

बलम राउर देशवा में चुनरी बिकाय॥

चुनरी खरीदइ हम गइली बजरिया,
चुनरी का मोल मोसे कहलो न जाय। बलम राउर....॥

चुनरी पहिरि हम गइली ससुरवाँ,
चाँद सूरज की जोति छिप जाय। बलम राउर....॥

जे यह चुनरी जतन करि पहिरे,
वही सुहागिनि बलम के सुहाय। बलम राउर....॥

कहै कबीर सुनो भाई साधो!
सदगुरु सबहीं के दिइलें पहिराय। बलम राउर....॥

प्रथम पद में स्पष्ट किया गया है कि सन्त कबीर ने अपने आराध्य देव को बलम, पिया, प्रियतम और साईं कहकर सम्बोधित किया जबकि वह एक परमात्मा के उपासक थे। आरम्भिक स्तर पर वे प्रभु से अनुनय-विनय करते हैं और प्रभु के घर का कुछ हाल जानकर कबीर निर्णय देते हैं कि भगवन्! आपके देश में केवल चुनरी की कीमत है। आप पुलिस विभाग या सेना में जायँ, वहाँ शरीर की कीमत है कि लम्बाई कितनी, सीना कितना! हाथ-पाँव, आँख तो स्वस्थ हैं! आई.ए.एस., पी.सी.एस. प्रतियोगिताओं में बुद्धि बिकती है, बुद्धि की कीमत है; अच्छे स्कालर ही वहाँ कामयाब होते हैं। इसी प्रकार

प्रत्येक विभाग में माप-तौल है, कीमत है; किन्तु ईश्वर-पथ में, परमात्मा के दरबार में केवल चुनरी बिकती है। निर्मल चित्त ही चुनरिया है, निर्मल चित्त की कीमत है।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

(रामचरितमानस, 5/45/5)

परमात्मा राम कहते हैं– निर्मल मन वाला ही मुझे प्राप्त करता है। मुझे कपट, छल-छद्म अच्छा नहीं लगता। जिसका चित्त स्वच्छ है, उसी की वहाँ वरीयता है। जिस चित्त में गन्दगी है, वह प्रियतम के सामने कैसे पहुँचेगी?

चुनरी खरीदइ हम गइली बजरिया।

चुनरी खरीदने हम बाजार गये। बाजार में तरह-तरह की चुनरी है किन्तु सन्त कबीर की चुनरी बहुमूल्य है, अत्यन्त मूल्यवान्! इतनी अधिक कि '**चुनरी का मोल मोसे कहलो न जाय।**'- हमसे कहते नहीं बन रहा है। क्यों? क्योंकि इसी निर्मलता के लिए सिद्धार्थ ने राजपाट त्याग दिया। भगवान महावीर ने भी राज्य का परित्याग कर दिया। भोगों में जिसे नश्वरता स्पष्ट दिखाई देती है वही त्याग कर पाता है, वही उस ओर बढ़ पाता है। पुण्यात्मा कीचड़ में भी जन्म जाय, उसी पद को प्राप्त कर लेता है। यह निर्मल चित्तरूपी चुनरी हर बाजार में उपलब्ध नहीं है। चित्त की निर्मलता का बाजार मात्र सद्गुरु के पास है। इसके लिए पहले वह त्याग सिखलाते हैं कि– '**जननी जनक बन्धु सुत दारा।**' इत्यादि '**सब कै ममता ताग बटोरी।**'– ममत्व के धागों को समेटकर प्रभु के चरणों में लगा दो। सबकुछ त्यागकर शान्त-एकान्त में मन से लव लगाना पड़ता है। इतना बड़ा मूल्य चुकाते नहीं बनता इसीलिए अत्यन्त मूल्य की है। इसमें शीश दान दिया जाता है, अपनी समझ का त्याग कर प्रभु के निर्देशों का पालन करना पड़ता है। इस सर्वस्व दान के बदले प्रभु की प्रभुता उसी चित्त में अर्जित की जाती है। इतना त्याग तो कोई विरला ही कर पाता है। भगवन्! आपके देश में केवल चुनरी की ही कीमत है।

चुनरी पहिरि हम गइली स्वसुरवाँ।

'स्व' का तात्पर्य शाश्वत स्वरूप से है। आप शरीर तो हैं नहीं, शरीर तो यहीं पड़ा रह जाता है। इसमें निवास करती है आपकी आत्मा! कबीर कहते हैं– इस चित्त को निर्मल कर हम स्व-स्वरूप की ओर बढ़ें। जब चुनरी स्वरूप से आप्लावित हुई तो **'चाँद सूरज की जोति छिपि जाय'–** चित्तरूपी चुनरी में जब परमात्मा का प्रतिबिम्ब उतरा तो इतना दिव्य प्रकाश कि चाँद और सूर्य की ज्योति भी उस प्रकाश के समक्ष फीकी पड़ गयी।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ *(गीता, 15/6)*

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि योगी लोग जिसमें प्रवेश पाते हैं, उस परमपद को न तो सूर्य प्रकाशित कर पाता है न चन्द्रमा और न अग्नि ही उसे प्रकाशित कर पाते हैं। वह स्वयं सहज प्रकाशस्वरूप है। वही मेरा परमधाम है। यही सन्त कबीर कहते हैं– **'चाँद सूरज की जोति छिपि जाय।**'- उनकी ज्योति भी छिप गयी।

रात्रि में जुगनू जहाँ-तहाँ चमकते हैं। आप देखते हैं कि उनमें ज्योति है। दिन में भी वही कीटाणु आपके समक्ष घूम रहा है किन्तु सूर्य के तीव्र प्रकाश में खद्योत की ज्योति एकदम छिप गयी, जैसे हो ही नहीं। इसी प्रकार उस सहज परमपद में चन्द्र और सूर्य का प्रकाश भी छिप जाता है मानो था ही नहीं! इस चुनरी के प्राप्तकर्ता को करना क्या पड़ेगा? इस पर सन्त कबीर कहते हैं–

जे यह चुनरी जतन करि पहिरे।

जिन्होंने इस चुनरी को यत्नपूर्वक पहना, यत्न का अर्थ है अभ्यास! भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ *(गीता, 6/35)*

अर्जुन! इसमें कोई सन्देह नहीं कि मन बड़ा दुर्जय है, यह कठिनता से वश में होने वाला है; किन्तु सतत् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा यह निःसन्देह वश में होता है, तू प्रयत्न तो कर! यही कबीर कहते हैं कि जिन्होंने इस चुनरी को '**जतन करि पहिरे**'- सतत् अभ्यास से पहना; सतत् अभ्यास क्या है? तो–

जागत में सुमिरन करै, सोवत में लव लाय।
सुरत डोर लागी रहै, तार टूटि ना जाय॥

'**जब बोले तो हरि गुन गावै, मौन रहे तो नाम जपावै।**'– जागते-सोते सतत् अभ्यास कर जिन्होंने यत्न किया, इसे प्राप्त किया, पहन लिया।

वही सुहागिनि बलम के सुहाय।

वही सुहागन है, अब उसका वियोग समाप्त हुआ। पिया उसके समक्ष, उस पर प्रसन्न! और उसे क्या चाहिए? शादी-विवाह संसार में होते ही रहते हैं किन्तु दाम्पत्य का सौमनस्य कितनों को मिल पाता है। आये दिन लात-घूँसे चलते रहते हैं, विच्छेद तक होता ही रहता है किन्तु निर्मल चित्त को सदैव प्रिय लगने वाली सुहागिन है। गुरुनानक ने अनुरोध किया कि प्रभो! ऐसी कृपा करें कि मैं आपको भा जाऊँ! आपको प्रिय लगूँ!

भगवान राम ने कहा–

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥

(रामचरितमानस, 3/42/5)

नारद जी! जो मेरा अनन्य भक्त है, वह मुझे इतना प्रिय लगता है जैसे शिशु माता को प्रिय लगता है। मैं उसकी वैसे ही रक्षा करता हूँ जैसे अबोध शिशु की रक्षा माता करती है। सांसारिक माताओं से कदाचित् असावधानी हो भी जाय किन्तु परमात्मा तो ऐसे माता-पिता हैं कि उनकी दृष्टि सर्वत्र सदैव पड़ा करती है। कोई भक्त शिशु उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हो सकता! वही सुहागन है और परमात्मा को सदा प्रिय लगनेवाला है।

अन्त में सन्त कबीर बताते हैं कि इस चुनर की प्राप्ति का स्थल कहाँ है?–

कहत कबीर सुनो भाई साधो!
सदगुरु सबहीं के दिहले पहिराइ॥

कबीर कहते हैं कि सन्तों सुनें! भाविक सुनें! '**सदगुरु सबहीं के दिहले पहिराइ**'- अनादिकाल से जब किसी ने प्राप्त किया है, चित्त को निर्मल कर उसमें परम चेतन का प्रतिबिम्ब पाया है तो सद्गुरु के द्वारा ही पाया है।

गुर बिनु भव निधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥

(रामचरितमानस, 7/92/5)

शंकर और ब्रह्मा के समान आप कितने ही प्रतिभावान् क्यों न हों, यदि गुरु से विछोह या दुराव हो गया तो आगे की दूरी कोई तय नहीं कर सकता।

राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता॥

(रामचरितमानस, 1/165/6)

यदि तकदीर रूठ गई हो, विधाता रूठ गये हों, आपके भाग्य में घोर नरक और यातनाएँ लिख गयी हैं फिर भी चिन्ता की बात नहीं है। सद्गुरु आपकी रक्षा कर लेंगे; क्योंकि जिस विद्या से संस्कारों का सृजन होता है, भाग्य निर्धारित होता है उस विधि को सद्गुरु दृढ़ कर देंगे और उस पथ पर आपको चला देंगे। वे नयी विधि, नये संस्कार रच लेंगे और पहले का लिखा कुअंक मिटवा लेंगे..... और यदि गुरु उपलब्ध नहीं हैं तो भगवान् नाम की कोई वस्तु नहीं है जबकि भगवान् ही तो एक ऐसी सत्ता है जो सर्वत्र है, अपरिवर्तनशील है, अजर-अमर है। है तो ऐसा ही किन्तु वह परमात्मा हमें दर्शन, स्पर्श और प्रवेश के लिए नहीं है। वह तभी सम्भव है जब सद्गुरु उपलब्ध हैं–

गुर के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही॥

(रामचरितमानस, 1/79/8)

इसीलिए सन्त कबीर कहते हैं– '**सद्गुरु सबहीं के दिहले पहिराइ।**'। अनादि काल से जब कभी किसी ने पहना है, किसी ने पाया है तो सद्गुरु ने ही इस चुनरी को धारण कराया है, पहनाया है। साधना के आरम्भ से पूर्तिपर्यन्त कदम-कदम पर साधक का साथ सद्गुरु देते हैं। प्राप्तिकाल में भगवान् मिलते हैं किन्तु उसके पूर्व सद्गुरु के अतिरिक्त साधक का सम्बल कोई नहीं होता।

!! बोलिये श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 1:3)

सद्गुरु ज्ञान बदरिया बरसे

मान लिया कि सद्गुरु ने ही सबको चुनर पहनाया है, यह भी मान लिया कि सद्गुरु के बिना कोई भवसागर पार नहीं हो सकता इसलिए लोग किसी-न-किसी को गुरु बना लेते हैं और अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं किन्तु यह बहुत बड़ी भूल है। आप मन-क्रम-वचन से सन्तों की सेवा करें। जिसने गृहत्याग किया है, ईश्वर-पथ पर कदम रखा है उनका साहस सराहनीय है; वे सन्त हैं किन्तु सद्गुरु कुछ और ही हैं।

पूरा सदगुरु ना मिला, मिली न साँची सीख।
भेष यति का बनाय के, घर-घर माँगे भीख॥

यदि पूर्ण सद्गुरु उपलब्ध नहीं हैं, उनकी वास्तविक शिक्षा गुरुओं का उपदेश नहीं मिला तो सन्त हो जाने के पश्चात् भी एक जन्म भिक्षा में ही चला जाता है। उनमें बीज का नाश तो नहीं होता। कभी-न-कभी वे मार्ग अवश्य पायेंगे किन्तु भगवान् से दूरी अवश्य बढ़ जाती है। इसी पर सन्त कबीर का एक भजन है कि गुरु की क्या पहचान है? गुरु कैसे बोलते हैं? वह भजन इस प्रकार है–

सदगुरु ज्ञान बदरिया बरसे॥

सद्गुरु के ज्ञान की बदली कहाँ बरसती है? इस पर सन्त कबीर कहते हैं–

गंगा में बरसे जमुना में बरसे,
ताल तलैया तरसे। सदगुरु ज्ञान....॥

साधु सन्त जन निशि दिन भीगैं,
निगुरा बूँद को तरसे। सदगुरु ज्ञान....॥
पाँच सखी मिलि तपैं रसोईं,
सुरत सुहागन परसै। सदगुरु ज्ञान....॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो!
विरलै शब्द को परखै। सदगुरु ज्ञान....॥

'**सदगुरु ज्ञान बदरिया बरसे**'- जैसे आकाश में बादल बरसता है, इसी प्रकार सद्गुरु के ज्ञान की वृष्टि किसी-किसी भाविक अधिकारी के हृदय में, चिदाकाश में हुआ करती है। एक आकाश बाहर है जिसे हम-आप देखते हैं। एक आकाश चित्त में भी है- उतना ही बड़ा जितना बाहर है। इसी चिदाकाश में सद्गुरु के ज्ञान का बादल बरसता है। महापुरुष वाणी से कुछ ही दिन बताते हैं, उसके पश्चात् वे मात्र एक चौथाई ही वाणी से बोलते हैं, शेष तीन चौथाई निर्देश साधक के हृदय से ही प्रसारित हो जाते हैं। सद्गुरु साधक के हृदयदेश से बोला करते हैं। उनका उपदेश निरन्तर बरसता रहता है जिसका नाम 'अनुभव' है। यही है आत्मा से जागृति, भगवान् का हृदय से रथी होना इत्यादि। इस प्रकार सद्गुरुओं का ज्ञान बादल की तरह बरसता है। वह वृष्टि कहाँ होती है? इस पर कहते हैं–

गंगा में बरसै, जमुना में बरसै, ताल तलैया तरसे।

सद्गुरु के ज्ञान का बादल गंगा और यमुना में बरसता है। गंगा में तो जल है ही, वहाँ वर्षा का क्या उपयोग? वर्षा का लाभ हमें तब है जब वह हमारे खेतों में, क्यारियों में बरसे। उससे हम फसलों का उत्पादन कर लेते! किन्तु सन्त उस वर्षा की बात नहीं कर रहे हैं। सद्गुरुओं की वृष्टि तो गंगा और जमुना में ही होती है। आध्यात्मिक प्रतीकों में ज्ञान ही गंगा है और योग ही जमुना है।

गंगा जमुना खूब नहाये, गया न मन का मैल।
आठ पहर जूझत ही बीता, जस कोल्हू का बैल॥

चोलिया काहे न धुलाया सुन्दर बाँके जोगिया।। चोलिया....

एक तो गंगा-यमुना नामक पवित्र नदियाँ हैं। इनमें स्नान-मार्जन-मज्जन इत्यादि से आपका पाप दूर होगा किन्तु स्नान के पश्चात् आप पुनः पाप अर्जित कर लेंगे किन्तु ज्ञान-गंगा ऐसी है जिसमें अवगाहन करने के पश्चात् पाप की सम्भावना सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाती है, एक बार पवित्र हो जाने के पश्चात् पुनः कभी दाग नहीं लगता। योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार–

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।। *(गीता, 4/38)*

अर्जुन! ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उसे तू स्वयं योग के आरम्भ में नहीं, मध्य में नहीं बल्कि परिपक्व अवस्थाकाल में '**आत्मनि विन्दति**'- अपने हृदयदेश में प्राप्त करेगा। अर्थात् ईश्वर का सन्देश जबसे साधक के हृदय में प्रसारित होने लगता है, आसमान से आवाज जब उतरने लगती है उस दिन से ज्ञान की शुरुआत है। जिसके हृदय में यह जागृति हो गयी, इष्टदेव सद्गुरु आत्मा से रथी हो गये, मार्गदर्शक हो गये, उस उपदिष्ट ज्ञान के सहारे चलनेवाले पथिक के चिदाकाश में वृष्टि होती है। यह गंगा में बरसना हुआ।

इसी प्रकार योग ही यमुना है। साधक योग के अनुष्ठान में, गीतोक्त नियत कर्म में निरन्तर प्रवृत्त हैं, उन्हें अनुभवों के माध्यम से इष्ट बताते हैं कि कहाँ कमी है। हृदय में सद्गुरुप्रदत्त अनुभवों के सहारे पथिक का योगाभ्यास चलता है, यही यमुना में वृष्टि है। और–

'ताल तलैया तरसे'

सद्गुरु का उपदेश तो मिला किन्तु कल पर टालते रहने वाले ताल-तलैया हैं। ताल-तलैया जैसे जलाशयों का जल स्थिर रहता है। उनमें बहाव नहीं है, प्रवाह नहीं है किन्तु गंगा-यमुना की धारा गतिशील है। वह जल प्रवाहित होकर समुद्र में मिलकर समुद्र हो जाता है– '**राम सिन्धु घन सज्जन**

धीरा।'- परमात्मा अथाह सिन्धु तुल्य है। साधक सिन्धुवत् परमात्मा में समाहित हो जाते हैं, ईश्वरभाव को प्राप्त हो जाते हैं, ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्राप्त कर लेते हैं। जिनमें प्रवाह है, उनमें बरसता है। जो अभ्यासरत नहीं हैं, तरसते रहते हैं। चाहते वे भी हैं किन्तु कर नहीं पाते। तरसना वह है कि चाहते हैं और वस्तु मिलती नहीं। यही है '**ताल तलैया तरसे**'।

इसलिए साधु को चाहिए, हर व्यक्ति को चाहिए कि सतत् अभ्यासरत रहे। ईश्वर-पथ में कभी बीज का नाश नहीं है। यह मान लिया कि आप सम्पूर्ण मार्ग नहीं चल सकेंगे किन्तु श्वास के रहते दस कदम तो उस पथ पर रख ही सकते हैं। अग्रेतर पंक्तियों में सन्त कबीर कहते हैं–

साधु सन्त जन निशि दिन भीजैं।

'साधु' वे हैं जो साधना में प्रवृत्त हैं, 'सन्त'- साधन-पथ के सम्बन्ध में जिनके हृदय में अब सन्देह नहीं है, सन्देह का अन्त है– ऐसे भाविक जन '**निशि दिन भीजैं**'- रात-दिन उस वर्षा में भींगते रहते हैं। सद्गुरु के ज्ञान का बादल रात-दिन बरसता है। यह दिन में चलते-फिरते, उठते-बैठते, ध्यान करते बरसता है, अंग-स्पंदन या दृश्यों के माध्यम से बरसता है। रात में शयन करने पर भी यह आपके स्वप्न में बरसता है। एक भी क्षण ऐसा नहीं है जब परमात्मा सोता है। वह रात-दिन आपके साथ लगा रहता है। साधक को केवल इतना ही करना है कि उनके निर्देशन को समझे और पालन करे। गुरु ज्ञान का बादल उनके लिए निरन्तर अविरल बरसता रहता है।

निगुरा बूँद भर तरसे।

'निगुरा' कौन है? प्रायः लोग जानते हैं कि निगुरा उसे कहा जा सकता है जिसके पास गुरु नहीं है; किन्तु ऐसी बात नहीं है। आज बोलचाल की भाषा में गुरु तो गाँव-शहर सर्वत्र भरे पड़े हैं। आपकी मुंबई में भी पचासों हजार से कम न होंगे। काशी भोलेनाथ की नगरी में किसी ने भाँग छान लिया तो आपस में कहते हैं– 'का गुरू छनल?' और कोई किसी को ठग लेता है तो बोलते हैं– 'का गुरू गँठल?' हर लाइन, हर साइड का गुरु होता है। कबीर

ऐसे गुरु की चर्चा नहीं करते। वह तो सद्गुरु की बात कर रहे हैं। शाश्वत सत्य एकमात्र परमात्मा है। जो उससे संयुक्त और उस पथ पर चला देने में सक्षम हैं, वह सद्गुरु हैं।

यदि कोई उन सद्गुरु की विद्या से हीन है किन्तु कोई लकीर पीटता है, कोई रूढ़ि पकड़कर बैठा है, पूर्वाग्रहों से ग्रस्त है वह निगुरा है। कोई कहता है– ''मैं संतोषी माता का भगत हूँ।'', कोई कहता है– ''मैंने यक्षिणी सिद्ध कर रखी है।'', कोई कहता है– ''मैं तांत्रिक हूँ।'', कोई कहता है– ''मैं मान्त्रिक हूँ।''; वह सद्गुरु की विद्या से न केवल वंचित है अपितु विपरीत दिशा में भटक रहा है और जड़ता के साथ उस लकीर को पकड़े हुए है, वह निगुरा है। किसी रूढ़ि से चिपकने वाले ऐसे निगुरे ज्ञान के एक बूँद के लिए तरसते हैं जबकि बेचारे जीवनपर्यन्त भजन ही करते हैं। कबीर ने इस पर बहुत बल दिया है–

कबीर निगुरा ना मिलैं, पापी मिलें हजार।
एक निगुरा के शीश पर, लख पापिन को भार॥

सन्त कबीर कहते हैं– मुझे निगुरा न मिले, दिखायी न पड़े। इसके स्थान पर हजार पापी मिलें, मुझे स्वीकार है। कारण? क्योंकि पापी में तो पाप स्वीकार करने का साहस है। जहाँ उसने पाप स्वीकार किया, सद्गुरु उसका मार्गदर्शन कर देगा और वह चल देगा, पाप धुल जायेंगे। यदि वह सद्गुरु की विद्या, क्रिया-पथ पर उस ज्ञानरूपी बादल के सहारे चले तो सम्पूर्ण पापों का अन्त संभव है किन्तु निगुरा तो सुनता ही नहीं, सुनकर भी चलता नहीं। वह किसी रूढ़ि से चिपककर बैठ गया है। इसी से तो समाज में अनेक पंथ और सम्प्रदायों का गठन हुआ है जबकि ईश्वर-पथ में कोई सम्प्रदाय नहीं है। परमात्मा सदा एक और अपरिवर्तनशील है। वह एक से दो कभी हुआ ही नहीं। उसमें परिवर्तन आया ही नहीं। उस परमात्मा को पाने की सदैव एक ही विधि है। माया-मोह के संसार में हम थे ही, अब मनसमेत इन्द्रियों को समेटकर ईश्वर की ओर लगाना है। कैसे लगायें? तो उसके लिए

सद्गुरु के ज्ञान की आवश्यकता है। जिन्होंने उस परमात्मा को जाना है, उसमें प्रवेश पाया है, उस परमात्म स्वरूप की जिन्दगी में जो जीता हो, उस अमृत तत्त्व को जो प्राप्त हो– ऐसे महापुरुष का सान्निध्य चाहिए किन्तु जो निगुरे हैं, वे एक-एक बूँद के लिए तरसते रहते हैं। अब साधनात्मक पहलू की चर्चा करते हैं–

पाँच सखी मिलि तपै रसोई, सुरत सुहागन परसे। सदगुरु ज्ञान....।।

ठीक यही भाव आदि शंकराचार्य का था। 'प्रश्नोत्तरी' में उन्होंने स्वयं प्रश्न उठाया–

के शत्रवः सन्ति निजेन्द्रियाणि।
तान्येव मित्राणि जितानि यानि।।4।।

सृष्टि में शत्रु कौन है? उन्होंने ही उत्तर भी दिया कि '**निजेन्द्रियाणि**'- अपनी ही इन्द्रियाँ; किन्तु यदि यही जीत ली जायँ तो वे ही मित्र बन जाती हैं, मित्रता में बरतती हैं, परमकल्याण साधनेवाली होती हैं। अपनी इन्द्रियाँ ही शत्रु और ये ही मित्र हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर संसार में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के पीछे दौड़ती हैं तो शत्रु हैं। उधर से सिमटकर जब संयत हो जाती हैं, इष्ट के तद्रूप प्रवाहित हो जाती हैं तो ये मित्र हैं, सखी हैं, हमारा वास्तविक साथ निर्वाह करने वाली हैं, हितैषी हैं।

'**पाँच सखी**' अर्थात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ जब संयत हो गयीं तो सखी हैं। ये जहाँ संयत हुईं तो '**तपै रसोई**'- भोजन तैयार करने लगती हैं। एक भोजन वह है जिससे आपके शरीर का पोषण होता है। शरीर-निर्वाह के लिए ग्रहण किये जाने वाले भोजन से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरे प्रकार का भोजन भजन है जो इस आत्मा की तृप्ति करता है, आत्मा को परिपूर्ण और द्रष्टा को स्वरूप में स्थिति दिलाता है। वह भजन ही भोजन है। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ जहाँ संयत हुईं तो '**तपै रसोई**'- भली प्रकार भजन में प्रवृत्त हो चलती हैं, भजनरूपी भोजन को तैयार करने, पकाने लगती हैं और–

सुरत सुहागन परसे।

इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों (सखियों) को संयत करने वाली सुरत है। यह सुहागन है। सुरत ही इस भजनरूपी भोजन को परोसती है। मन की दृष्टि का नाम सुरत है। आप यहाँ बैठे हैं, सत्संग में विभोर हैं, सहसा कोई आपके कान में कह दे कि आपका बच्चा छत से गिर गया, बेहोश है, अस्पताल गया। बस, आपको न तो सत्संग का शब्द सुनाई देगा, कोई वाद्य, संगीत-भजन हो रहा है वह भी नहीं सुनाई देगा किन्तु बच्चे का एक-एक रोम दिखायी देने लगेगा। वस्तु सामने नहीं है फिर भी स्पष्ट दृष्टिगोचर हो, मन की इस दृष्टि का नाम सुरत है। इसी दृष्टि से भजन किया जाता है। सद्गुरु के स्वरूप और श्वास में सुरत लगाया जाता है, श्वास में नाम जपा जाता है।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ संयत हो गयीं तो सुरत अब सुहागन है, प्रियतम सद्गुरु को प्रिय लगने वाली है। निरन्तर उत्तरोत्तर सुरत लगती जायेगी, सुरत डूबती जायेगी, मन की दृष्टि सिमटकर भजन में प्रवृत्त होती जायेगी, सुरत परोसती रहेगी; साधक ब्रह्मपीयूष का पान करता जायेगा, वह भोक्ता हो जायेगा। पद के अन्त में सन्त कबीर कहते हैं–

कहत कबीर सुनो भाई साधो! विरले शब्द को परखै।

कबीर कहते हैं– '**सुनो भाई साधो!**'- सन्त सुनें! मैं जो उपदेश कर रहा हूँ, उस वैदिक तथ्य को छिपाकर प्रस्तुत कर रहा हूँ। इन शब्दों का आशय कोई विरला सन्त ही परख पायेगा। यह सबके सामर्थ्य की बात नहीं है। सन्त की वाणी को सन्त ही पहचानते हैं।

सन्त कबीर की वाणी को लोगों ने उलटवाँसी कहकर सम्बोधित किया। वह कोई 'भाँड़' तो थे नहीं कि लोक को रिझाने के लिए ऊटपटांग बकते फिरें। कबीर एक सन्त थे। सन्त के पास समय ही कहाँ रहता है कि लोक को रिझाने के लिए कुछ कहें। उनकी वाणी सटीक है, ईश्वर-प्रदत्त है, साधनापरक है।

!! ॐ !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 1:4)

शब्द सो प्रीति करै सोई पावै

सन्त कबीर का एक भजन है– '**शब्द सो प्रीति करै सोई पावै।**' परमात्मा को, ईश्वर को, उस शाश्वत धाम को वही प्राप्त कर पायेगा जो शब्द से प्रीति करेगा। पहले भजन प्रस्तुत है–

शब्द सो प्रीति करै सोई पावै॥

इस धरती की चार दिशा हैं, काया भेद लखावै।
बिनसे धरती बिनसे काया, तब जिव कहाँ समावै॥
शब्द सो प्रीति....॥

स्वाँसा सुमिरे घड़ी विचारे, लगन शब्द में राँचे।
जब जियरा के काल गरासे, कौन नाम कहि बाँचे॥
शब्द सो प्रीति....॥

त्रिकुटी मध्ये ध्यान लगावै, अजपा जाप जपावे।
सुरति समानी अधाधुन्ध में, बिन जाने का जावे॥
शब्द सो प्रीति....॥

साधु वही जो सेवा जीते, सेवा सदगुरु पावै।
बलिहारी वहि सत्य गुरु की, जो वह गुफा लखावै॥
शब्द सो प्रीति....॥

जो कुछ कहूँ अकह से न्यारा, ताहि देखि लव लावै।
कह कबीर एहि गति के योगी, बहुरि न भव जल आवै॥
शब्द सो प्रीति....॥

सन्त कबीर के अनुसार परमात्मप्राप्ति का साधन-स्रोत शब्द से प्रीति है। अब यह प्रश्न स्वाभाविक है कि शब्द क्या है? तो–

शब्द हमारा आदि का, शब्दै पैठा जीव।
कूड़ा केरी टोकरी, घोड़ा खाया घीव॥

सन्त कबीर कहते हैं कि हमारा शब्द आदि का है। आदि, अनादि परमात्मा है। हमारा शब्द उस परमात्मा का है, उससे संचालित है, प्रसारित है। उस शब्द का आश्रय लेकर जीव अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। '**शब्दै पैठा जीव**'- उस शब्द में प्रवेश कर जीव पूर्ण हो जाता है। यह शरीर कूड़े की टोकरी है। ये इन्द्रियाँ रात-दिन विषय-भोगों का कचरा, मल-आवरण-विक्षेप का ही तो संग्रह करती हैं।

'**घोड़ा खाया घीव**'- घोड़ा घी नहीं खाता! इसे उलटवाँसी न कहें तो क्या कहें? किन्तु अध्यात्म में ऐसा ही है। सन्त कबीर ने मन को घोड़े की संज्ञा दी है। यह अयुक्त मन क्रमशः सिमटकर उस सारतत्त्व परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। किसी भाविक ने कबीर से पूछा–

कौन ज्ञान है कौन ध्यान है, को है पारख बानी।
काहे लिये तुम ज्ञान कूटत हो, को है अंतर्यामी॥

आप किसके लिए ज्ञान-ध्यान की बातें करते हैं? अन्तर्यामी कौन है? सन्त कबीर ने बताया–

मनै ज्ञान है मनै ध्यान है, मन है पारख बानी।
मनै लिये हम ज्ञान कूटत, मोर मनवै अंतर्यामी॥

मन से ही ज्ञान है, मन से ही ध्यान है और मन में ही उस पारखवाणी का सूत्रपात् होता है। परन्तु यह मन अत्यन्त चंचल, दुष्ट और धूर्त है। इस मन ही के लिए मैं ज्ञान की चर्चा करता हूँ। सारे उपक्रम इसे संयत करने के लिए ही है और जब यह कूटस्थ हुआ तो '**मोर मनवै अंतर्यामी**'- मेरा मन ही वह अन्तर्यामी पद पा लेता है।

सन्त कबीर ने नया कुछ नहीं कहा। उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण के उसी मन्तव्य को दुहरा दिया जो आदिशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता में है–

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥5/19॥

उन पुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया। किनके द्वारा? जिनका मन समत्व में स्थित है। क्यों? समत्व की स्थिति का संसार जीतने से क्या सम्बन्ध है? श्रीकृष्ण कहते हैं– '**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**'- वह ब्रह्म निर्दोष और सम है और इधर इसका मन भी निर्दोष और सम की स्थितिवाला हो गया इसलिए यह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। कबीर कहते हैं– '**मनवै अंतर्यामी**'; योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– मन ब्रह्म में स्थित हो जाता है।

प्राप्तिवाला प्रत्येक महापुरुष एक ही बात कहता है। अन्तर इतना ही है कि कभी बोलचाल की भाषा संस्कृत थी तो कबीर ने सहज बोलचाल की भाषा हिन्दी में उसी तथ्य को प्रस्तुत किया। प्राप्तिवाले महापुरुष भाषा से कभी नहीं चिपके। उन्होंने उस भाषा का प्रयोग किया जो बहुसंख्यक जनता के कानों तक, हृदय तक पहुँच सके। बुद्ध विद्वान् थे किन्तु क्षेत्रीय सामयिक भाषा पाली में उन्होंने अपना उपदेश प्रसारित किया। भगवान महावीर राजकुमार थे, पूर्ण विद्वान् थे किन्तु जनता को हृदयंगम कराने के लिए इन्हीं तथ्यों को अर्द्धमागधी में प्रस्तुत किया। गुरुनानक ने अपनी क्षेत्रीय लोकवाणी में उपदेशों का प्रसारण किया। भाषाएँ भले ही अलग रही हों, प्रत्येक महापुरुष का तथ्य, निष्कर्ष और स्तर एक है। अनुभव में मिलने वाले शब्दों पर कबीर पुनः बल देते हैं–

शब्द हमारा आदि का, पल पल करहू याद।
अन्त फलेगी मोहली, ऊपर की सब बाद॥

हमारा शब्द आदि का है। सबका आदि मूल है परमात्मा, अतः यह शब्द परमात्मा से संचारित है, प्रसारित है। इसे पल-पल याद करें कि वे कहते

क्या हैं? उसे समझें और उनके निर्देशों का पालन करें। उसकी अवहेलना न करें। अन्त में आपके भीतर जो सारतत्त्व है वही फलीभूत होगा, ऊपर वाला दिखावा तो बकवास है, व्यर्थ है। इसी आशय का कबीर का यह पद है– '**शब्द सो प्रीति करै सोई पावै।**'

लौकिक गुरु दीक्षा के रूप में शिष्य के कान में धीरे से कोई मंत्र या शब्द कह देते हैं और शिष्य से वही जपने के लिए कहते हैं। इस प्रक्रिया को कान फूँकना भी कहते हैं। अनुसुइया आश्रम में आने वाले भाविक भी पूज्य गुरुदेव से प्रार्थना करते थे कि इसी तरह उन्हें भी शिष्य बना लें। गुरुदेव भगवान कहा करते थे– ''हो! मैं कान नहीं फूँक सकता। कान फूँकने से कुछ होता ही नहीं। कान से सुनकर भी तुम उसे अपनी बुद्धि के अनुरूप ही ग्रहण करोगे। सन्त उपदेश करते हैं। मैं उपदेश करूँगा, उसे तुमलोग श्रवण करो।'' इस प्रकार गुरुदेव दूर बैठकर उपदेश किया करते थे और कहते थे– ''उपदेश के अनुसार तुमलोग पालन करोगे, थोड़ी-सी भी साधना यदि हृदय से पार लगी, श्रद्धा की डोरी लगी तो जिसका नाम भजन है, मैं तुम्हें दे दूँगा। तुम हजारों किलोमीटर दूर भी रहो तब भी मैं उसे तुम्हें यहाँ बैठे-बैठे दे दूँगा। केवल साँझो-विहानों (प्रातः-सायं) थोड़ा मेरा स्वरूप अपने मन में देख लिया करो।''

हर महापुरुष ने यही कहा। भगवान महावीर ने कहा–

णमो अरिहंताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्व-साहूणं।
एसो पंच-नमुक्कारो, सव्व-पाव-प्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पदमं हवइ मंगलं।।

उन्होंने महापुरुष की पाँच विशेषताओं का वर्णन किया कि अरिहन्तों को नमस्कार है, सिद्धों को नमस्कार है, आर्यों को नमस्कार है, उपाध्यायों को नमस्कार है, साधुजनों को नमस्कार है। यह पाँच नमस्कार सब पापों का नाश करने वाला और सब मंगलों में प्रथम मंगल है। उन महापुरुषों की शरण

जाओ, उनके प्रति समर्पित हो जाओ। यही पूज्य महाराजश्री का निर्देश था। इस प्रकार महापुरुष वाणी से तभी तक उपदेश करते हैं जब तक वह हृदय से जागृत नहीं हो जाते। इसके पश्चात् वह वाणी से बहुत कम, यदा-कदा, असावधान होने पर, बहुत आवश्यक होने पर कुछ कहते हैं किन्तु हृदय से निरन्तर निर्देश देते रहते हैं। इसके बाद भी कमी है तो साधक के चलने में है, साधक के पकड़ की है अन्यथा ईश्वर-पथ में कोई कमी नहीं है। जब से अन्तःकरण में सद्गुरु की जागृति होती है, जिस स्तर पर हम हैं, जिस परमात्मा की हमें चाह है उसी स्तर पर उतर कर आत्मा से जागृत होकर रिले होता है, प्रसारित होता है, अपना उपदेश देने लगता है, उसी दिन से भजन आरम्भ होता है। उन निर्देशों के सहारे, जिसे कबीर ने शब्द की संज्ञा दी है, चलने वाला वास्तव में पथिक है।

सन्त कबीर कहते हैं कि आप आवागमन की भूलभूलैया में भटक रहे हैं–

यह धरती की चार दिशा हैं, काया भेद लखावै।
बिनसे धरती बिनसे काया, तब जिव कहाँ समावै॥

इस धरती की चार दिशाएँ हैं। '**धड़ धरती का एकै लेखा। जो बाहर सो भीतर देखा।**'- धरती कहते हैं इस पृथ्वी को, धड़ कहते हैं शरीर को! जो कुछ सृष्टि में बाहर है, सारी व्यवस्था आपके मन में है– '**मन महँ तथा लीन नाना तन, प्रगटत अवसर पाये।**', '**सरग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे।**'- स्वर्ग-नरक चराचर जगत् इस मन के अन्तराल में अवस्थित है। जब जिसका क्रम आता है, यह मन उसे पिण्डरूप में बाहर फेंकता रहता है। इस प्रकार धड़ और धरती समरूप हैं। मन में सूक्ष्म परमाणु है तो धरती स्थूल। इस शरीररूपी धरती की चार दिशाएँ हैं– अण्डज, पिण्डज, उष्मज (स्वेदज) और उद्भिज्ज (स्थावर, वनस्पतियाँ इत्यादि)। गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में– '**चार खानि जग जीव अपारा**'- चार खानों में जीवों की अपार शृंखला है, चार ही प्रकार की सृष्टि है। जीव की

अन्य कोई पाँचवीं दिशा या दशा नहीं है। '**काया भेद बतावै**'- काया पिण्ड-परिवर्तन का भेद बताती है, विविध प्रकार के कलेवरों का ढाँचा बनाती है। '**बिनसे धरती बिनसे काया**'- धरती नश्वर और काया का परिवर्तन भी नश्वर है। जब यह नष्ट ही होना है, '**तब जिव कहाँ समावै**'- तब जीव भला कहाँ शरण लेगा? इसलिए शब्द से प्रीति करो। प्रीति करें तो कैसे करें? इस पर कहते हैं–

स्वाँसा सुमिरे घड़ी विचारे, लगन शब्द में राखे।

श्वास का जप करें। जप के चार क्रमोन्नत सोपान हैं। नाम वही है, केवल नाम जपने का स्तर उठता जाता है। आरम्भ में बैखरी, उससे मध्यमा, पश्यन्ती और परा। बैखरी में नाम का स्पष्ट उच्चारण किया जाता है। कुछ दिनों के सतत् अभ्यास से मन नाम में डूबने लगता है, स्वर मन्द पड़ जाता है, जप चलता रहता है, इसे मध्यमा कहते हैं। क्रमशः नाम सूक्ष्म होकर श्वास में ढल गया तो पश्यन्ती और धारा-प्रवाह होने पर परा कहा जाता है। इस वाणी को परा इसलिए कहते हैं कि यह परम में प्रवेश दिला देने की क्षमता वाली है। पश्यन्ती और परा के जप का उतार-चढ़ाव श्वास पर है इसलिए श्वास से सुमिरण करो और '**घड़ी विचारो**'- प्रत्येक घड़ी (घटी) विचार करो। घटी, पल समय-माप के पैमाने हैं। घड़ी का आशय है कि समय का विचार करो–

श्वास श्वास पर राम कहु, वृथा श्वास जनि खोय।
ना जाने इस श्वास का, आवन होय न होय॥

पल-पल, हर घड़ी विचार कीजिए। एक भी श्वास व्यर्थ न जाने पाये और '**लगन शब्द में राखे**'- जप करते समय आपकी दृष्टि शब्द पर टिकी रहे कि प्रभु ने हमारा जप स्वीकार किया या नहीं? किया तो कितना किया? आगे उनका क्या निर्देश है? क्या आदेश है? उनके शब्द पर सदा दृष्टि रखें! कदाचित् ऐसा नहीं करेंगे तब क्या होगा?

जब जियरा के काल गरासे, कौन नाम कहि बाँचे।

जब जीवात्मा को काल ग्रसेगा, ऐसा कौन नाम है जिसका आश्रय लेकर आप काल से बच पाओगे? प्रश्न उठता है कि इस शब्द का प्रीतिकर्त्ता ध्यान कैसे धरें? तो–

त्रिकुटी मध्ये ध्यान लगावै, अजपा जाप जपावै।

साधना के आरम्भ में दोनों भौंहों के मध्य त्रिकुटी में ध्यान लगाने का विधान पाया जाता है किन्तु वास्तविक त्रिकुटी तब है जब सत्-रज-तम– तीनों गुण कूटस्थ हो जायँ। न सात्त्विक तरंग मन में उठे, न राजसी, न तामसी संकल्प उठें। इन तीनों से रिक्त होकर सुरत लगायें। तीनों को कूटस्थ (पर्वत की तरह अचल, अडिग) कर ध्यान लगायें। आप ध्यान में लगें और मन में कोई सात्त्विक तरंग उठ गयी कि उस शास्त्र में ऐसा क्यों लिखा है?– हमारा मन तो बहक गया। अब ध्यान की गुंजाइश नहीं रह गयी। ध्यान के लिए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं–

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥ *(पातञ्जल योगदर्शन, 3/2)*

वहाँ वृत्ति का एकतार चलना, क्रम न टूटना ध्यान है। इसलिए तीनों गुणों को कूटस्थ करके इनसे अलग होकर ध्यान लगायें। '**अजपा जाप जपावै**'- जप का आशय है जपें, अजप का आशय है मत जपें। प्रयास करके न जपना पड़े किन्तु जप साथ न छोड़े। आरम्भ में प्रयत्न करने पर भी मन साधना छोड़कर वासनाओं की ओर भाग जाता है। क्रमशः अभ्यास से जप इतना सूक्ष्म हो जाता है कि बिना लगाये ही नाम श्वास में ढल जायेगा, भजन धारावाहिक होने लगेगा। इस स्तर के भजन का नाम है अजपा! इस अजपा जाप का परिणाम क्या होगा? इस पर कहते हैं–

सुरत समानी अधाधुन्ध में, बिनु जाने का जावै। शब्द सो प्रीति....

इसके पश्चात् आपकी सुरत अधाधुन्ध है, अखण्ड है, अपार है, अनन्त है। कबीर ने अपनी सधुक्कड़ी भाषा में इस स्थिति को अधाधुन्ध कहा। जिसका आर-पार नहीं है, वह शाश्वत सत्य एक परब्रह्म परमात्मा है, अविनाशी धाम है। इस अजपा के फलस्वरूप आपकी सुरत अधाधुन्ध में,

अखण्ड-अपार परमात्मा में समा जाती है। जब तक सुरत समाहित नहीं हो जाती, जब तक वह अखण्ड-अपार परमात्मा जानने में नहीं आता तब तक उसे जाने बिना '**का जावै**'- क्यों भाग रहा है, क्यों पीठ दिखा रहा है? साधना छोड़नी नहीं चाहिए। साहस, शौर्य के साथ लगें। यह काँटों भरा रास्ता है। महापुरुषों ने इस पथ को युद्ध की संज्ञा दी है, इसमें पीछे हटना नहीं चाहिए। अग्रेतर कहते हैं–

साधु वही जो सेवा जीते, सेवा सद्गुरु पावै।

साधु वही है। यह अजपा का जप, श्वास का सुमिरन, शब्द की जागृति उन संतों के लिये संभव है जो सेवा को जीत लें। सभी सेवा कर नहीं पाते। आरम्भ में सेवा का उत्साह रहता है किन्तु शीघ्र ही लोग बगल झाँकने लगते हैं। '**सिर भरि जाउँ उचित अस मोरा। सबु ते सेवक धरम कठोरा।।**'– रामचरितमानस में भरत की उक्ति है कि सेवक धर्म बड़ा कठोर है। कितना ही कठोर हो, साधु वही है जो सेवा को जीत ले। सेवा किसकी करें? लोग कहते हैं देश-सेवा, लोक-सेवा, ज्ञान-सेवा और इनके नाम पर अपनी गोट लाल करके महल बना लेते हैं। लोगों ने सेवा को एक जीविका बना रखा है किन्तु सन्त कबीर के अनुसार '**सेवा सद्गुरु पावे**'- सेवा सद्गुरु की करें। अब कौन से सद्गुरु की सेवा करें? सद्गुरु की पहचान क्या है? सद्गुरु की सेवा से लाभ क्या है?– इस पर सन्त कबीर कहते हैं–

बलिहारी वा सत्य गुरु की, जो वह गुफा लखावै।

उस सद्गुरु पर मैं बलिहारी हूँ '**जो वह गुफा लखावै**'– जो वह गुफा दिखा दे जहाँ से शब्द जागृत होता है, प्रस्फुटित होता है। उस आवाज की जागृति, उसे सुनना और समझना सद्गुरु के द्वारा सम्भव है। जो उसमें रमण करता है वही अन्य में जागृत कर सकता है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। इसलिए मैं ऐसे सद्गुरु की बलिहारी लेता हूँ, समर्पित हूँ। जिस परमात्मा की हमें चाह है, वह उसी सतह पर उतर आये जिस पर हम हैं, मार्गदर्शन करने लगे। यही है शब्द! यही है आसमानी आवाज! कबीर कहते हैं–

जो कुछ कहूँ अकह से न्यारा, ताहि देखि लव लावै।

मैं जो वाणी से कह रहा हूँ, जो कहने में आ रहा है तथा जो कहने में नहीं आ रहा है, मन में महसूस करता हूँ– इन दोनों से वह शब्द न्यारा है, अलग है। उस शब्द को देखा जाता है। '**ऋषयः मंत्रः द्रष्टारः**'- ऋषिगण मंत्रद्रष्टा थे। मंत्र को उन्होंने देखा था। वही सन्त कबीर कहते हैं– शब्द कह-अकह दोनों के परे है। उसे देखते जाओ, लव लगाते जाओ।

कह कबीर एहि गति के योगी, बहुरि न भव जल आवै।
शब्द सो प्रीति....॥

सन्त कबीर कहते हैं– इस जागृति को प्राप्त योगी लौटकर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते। वह निश्चय ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। भवसागर में वे जन्म नहीं लेते, आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। उस अविनाशी पद को प्राप्त कर लेते हैं जिस पर भगवान श्रीकृष्ण ने बल दिया–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ *(गीता, 18/61)*

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता, 18/62)

अर्जुन! हृदयस्थित उस ईश्वर की शरण जाओ। '**सर्वभावेन**'- सम्पूर्ण भावों से जाओ। मान लें हमने सारी मान्यताएँ तोड़ीं और एक ईश्वर की शरण गये तो उससे लाभ क्या? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– '**तत्प्रसादात्परां शान्तिं**'- उसके कृपा-प्रसाद से तुम परम शान्ति को प्राप्त कर लोगे और '**स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्**'- उस स्थान को पा जाओगे जो शाश्वत है। सदा तुम रहोगे और तुम्हारा धाम रहेगा।

अतः उस परम धाम की प्राप्ति के लिए जीते-खाते, समस्त क्रियाकलाप यथापूर्व करते रहें। किसी भी कार्य को बन्द करने की जरूरत नहीं है। केवल

एक नया काम और जोड़ लें– उस परमात्मा में केवल डोरी लगा लें, श्रद्धा स्थिर कर लें। परमात्मा के परिचायक किसी एक नाम का जप आरम्भ करें। ओम् अथवा राम जो भी आपको अभिमत हो, जपें। साथ ही किसी अच्छे महापुरुष, कैसे भी सन्त हों, उनकी सेवा करें और यदि सद्गुरु मिल जाते हैं तो सोने में सुगन्ध ही है। मूलतः कबीर, महावीर, बुद्ध, नानक, आद्योपान्त सम्पूर्ण महापुरुषों के अनुसार यदि सद्गुरु उपलब्ध नहीं है तो भजन की जागृति नहीं होती। सन्त कबीर का यह भजन इसी आशय को व्यक्त करता है।

!! बोलिये श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 2:1)

अड़गड़ मत है पूरों का

सन्त कबीर का यह पद गुरुदेव भगवान समय-समय पर साधकों के हित में कहते थे। इस पद से मेरे व्यक्तिगत जीवन की एक घटना भी जुड़ी है जो मेरे नामकरण का भी निमित्त बनी। यद्यपि पूज्य गुरुदेव का सन् 1947 के आरम्भ में ही अनुसुइया आगमन हो चुका था, फिर भी निवास की संतोषजनक व्यवस्था न थी। सैकड़ों वर्ष पूर्व निर्मित सिद्धबाबा की दो-तीन कोठरियों के भग्नावशेष थे। क्षेत्रीय जनता के अत्यधिक अनुरोध पर भी महाराजश्री ने वहाँ आश्रम निर्माण की अनुमति न दी; किन्तु कानपुर के समृद्ध भक्त श्री ओच्छवलाल जी पारिख तथा कर्वी के तत्कालीन एस.डी.एम. श्री एस.डी. चतुर्वेदी के विशेष आग्रह पर महाराज जी ने धूनी के ऊपर तीन टूटी-फूटी टीन की जर्जर चद्दरों के स्थान पर एक छोटा-सा धूना घर बना देने की अनुमति प्रदान कर दी जिससे वर्षा से धूना भींगने और बुझने से बच जाय।

उक्त महानुभावों ने स्तम्भ निर्माण हेतु ईंटें भेजीं जो आश्रम के समीपवर्ती ग्राम तक आ गयीं। ग्रामवासियों ने उत्साहपूर्वक श्रमदान कर उसे मंदाकिनी नदी के किनारे तक गिरा दिया। वहाँ से ईंटों को बाँस की टोकरियों में रखकर भक्तजन कहीं कमर, कहीं सीने, कहीं गले तक पानी में होकर मंदाकिनी पारकर आश्रम के समक्ष रखते जा रहे थे।

उस समय हमारी आयु लगभग 23 वर्ष रही होगी। अनुसुइया आये छः-सात महीने हो चले थे। सन् 1956 के संभवतः अगस्त माह में ईंटों को आश्रम में लाने का श्रमदान चल रहा था। हमने भी इस श्रमदान में अपना

योगदान करने का निश्चय किया। गुरुदेव का निर्देश था कि मन को सदैव नाम या रूप में लगाये रखना चाहिए। इस निर्देश को ध्यान में रखकर श्रमदान में हम ऐसी एकान्तिक सेवा का अवसर खोजने लगे जिसमें दूसरों से वार्ता या सहयोग की अपेक्षा से नाम या रूप विस्मृत न हो। हमने देखा कि शिर पर ईंट ढोते समय ऊबड़-खाबड़ पथरीली नदी में बहुत-सी ईंट संतुलन बिगड़ने से गिर जाती थीं और धारा के साथ बहकर और गहरे जल में चली जाती थीं। हमने तलहटी में गिरी उन ईंटों को निकालने की सेवा चुनी जिसमें किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं थी। हम मन में नाम जप करते, डुबकी लगाते और जब स्वरूप पकड़ में आता तो ईंट लेकर ऊपर आ जाते। भजन के साथ सेवा का अच्छा अवसर मिल गया।

कुछ देर तक तो सब ठीक चलता रहा। जीवन के आरम्भिक वर्षों में तरणताल (स्वीमिंग पूल) में पचासों फीट ऊपर से जल में छलाँग लगाने (डाइव करने) का अभ्यास था। पूर्व अभ्यासवश हम शिर के बल पानी में डुबकी लगाते थे। पहाड़ी नदियों में नुकीले पत्थर स्थान-स्थान पर उभरे ही रहते हैं। एक बार शिर सीधा पत्थर से जा टकराया। शिर में घाव हो गया। ऊपर आने पर लोगों ने रक्त बहते देखा। उन्होंने पट्टी बाँध दिया। महाराज जी के पास हमें ले गये। लोगों ने बताया कि यह शिर के बल डुबकी लगा रहे थे। रक्त बहता देख गुरुदेव बोले– ''मारो अड़गड़ है! गँवार कहीं का! लोग नदियों में पैर के बल जाते हैं। यह शिर के बल जा रहा था।'' लोगों ने कहा– ''हाँ, महाराज! एकदम गँवार है।'' महाराज जी ने कहा– ''नहीं रे, मैं देखत रहा हूँ। कैसा डूब-डूबकर ईंट निकाल रहा था। गँवार नहीं है, अड़गड़ है।''

अब लोगों को एक विनोद मिल गया। वे मुझे अड़गड़ कहकर आनन्द लेते। आश्रम में अभी मेरा कोई सम्बोधन भी नहीं था, इसलिए लोग मुझे अड़गड़ कहकर बुलाने लगे। मैंने विचार किया– कोई मुझे अड़गड़ कहे या बग्गड़; यह तो भौतिक शरीर का एक सम्बोधन है। इससे भजन में कोई बाधा या सहायता तो मिलती नहीं। लोग कहते हैं तो कहें! महाराज जी ने यह

संबोधन दिया, यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है; फिर भी इस शब्द का कुछ न कुछ अर्थ तो होगा ही! यह जिज्ञासा मन में बनी रही।

कुछ दिनों पश्चात् महाराज जी के किसी भाविक भक्त ने यह जिज्ञासा प्रकट की– महाराज जी! 'अड़गड़' नाम का अर्थ क्या होता है? महाराज उससे बहुत प्रसन्न हुए और बताया– अड़गड़ का अर्थ है कठिन, जटिल, दुरुह, अगम! रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा–

लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
गुर बसिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार।।

(रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 197)

वशिष्ठ ने वैसा गुण देखा इसलिए उनका नाम लक्ष्मण रखा। इसी तरह अड़गड़– बढ़िया नाम है इसका। इसमें यही लच्छन है। हमें भी कुतूहल हुआ, यह कौन-से लक्षण की ओर इंगित कर रहे हैं? लगभग एक माह पश्चात् महाराज जी बोले– ''हूँ! ईश्वरपथ में वही सबसे अच्छा माना जाता है जो अड़गड़ हो।'' इस शब्द से सम्बन्धित सन्त कबीर का एक भजन पूज्य महाराज जी के मुखारविन्द से सुनने को मिला जो इस प्रकार है–

अड़गड़ मत है पूरों का, यहाँ नहीं काम अधूरों का।।

सच्चा साफ अमीरी रस्ता, सच्चे साहिब शूरों का।
कच्चा अरु मटमैला रस्ता, कच्चे कायर कूरों का।।
यहाँ नहीं.....।।

जप तप करके स्वर्ग कमाना, यह तो काम मजूरों का।
देना सब कुछ लेना कुछ नहीं, बाना झाँकर झूरों का।।
यहाँ नहीं.....।।

बड़ा देव गद्दी पर बैठा, तब क्या ढोना घूरों का।
मस्त हुआ जब अनहद सुनकर, तब क्या सुनना तूरों का।।
यहाँ नहीं.....।।

मुश्किल अगम पंथ का चलना, धारा खाँड़े छूरों का।
कहत कबीर सुनो भाई साधो! अगम पंथ कोई शूरों का॥
यहाँ नहीं.....॥

अड़गड़ पथ अर्थात् दुर्गम पथ! जिस रास्ते पर हम-आप कभी गये नहीं, जो गया लौटकर आया नहीं, सन्देशा दिया नहीं– ऐसे पथ से गुजरकर अपने स्वरूप, शाश्वत धाम तक पहुँचना है इसलिए यह पथ अड़गड़ है। प्रह्लाद के साथ क्या घटित हुआ, मीरा को कितना कष्ट मिला, इस पथ में बड़े अवरोध, खोह-खन्दक हैं इसलिए यह बड़ा कठिन, दुरुह पथ है।

'**अड़गड़ पथ है पूरों का**'- यह पूरों का पथ है। पूरा वह है जो सम्पूर्ण मन से लगता है। अधूरे वे हैं जो आधे मन से लगते हैं। कथा है कि उद्धव गोपियों को ज्ञान सिखाने पहुँचे। देखा कि गोपियाँ श्रीकृष्ण नाम का संकीर्तन कर रही हैं। उन्होंने सोचा– ये तो देवभक्ति कर रही हैं। हमारी दृष्टि में यह निचले स्तर की साधना है। उद्धव ने गोपियों को समझाया कि वे ज्ञान का आश्रय लें। ज्ञान नित्य है, शाश्वत है। गोपियों ने उद्धव को उत्तर दिया–

ऊधव मन न भये दस बीस॥
रह्यो एक सो गये स्याम संग, को अवराधै ईस॥
ऊधव मन.....॥

उद्धव जी! मन दस-बीस तो होता नहीं! हमलोगों के पास तो एक ही मन था, वह श्याम के संग चला गया। अब आपसे योग-साधना सीखने के लिए हम अलग से दूसरा मन कहाँ पायें? उद्धव ने देखा– साधना से जिस चित्त का निरोध किया जाता है, इन गोपियों का मन तो भगवद्-रस से आप्लावित है। इनकी स्थिति तो हमसे अत्यन्त उच्च है। गोपियों को आदर्श मान वह भी भक्ति के रस में डूब गये। इस प्रकार जो सम्पूर्ण मन से लगता है, वह पूरा है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भी सम्पूर्ण मन से लगने की बात कही–

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥18/62॥

अर्जुन! उस हृदयस्थित प्रभु की शरण में जाओ, '**सर्वभावेन**'- सम्पूर्ण भावों से जाओ। ऐसा नहीं कि कुछ भाव संकटमोचन में, थोड़ा विन्ध्यवासिनी में, किञ्चित् पशुपतिनाथ में हो गया। तब तो पचहत्तर प्रतिशत हम लीक हो गये, भटक गये, हमारा भाव बिखर गया। हृदयवाले ईश्वर के पास जाने के लिए अत्यन्त स्वल्प भाव ही बच पाया। इस भूल के कारण कल्याण कभी नहीं होगा। अतः '**सर्वभावेन**'- सम्पूर्ण भाव से तुम उसकी शरण जाओ। '**तत्प्रसादात्परां शान्तिम्**'- उसके कृपा-प्रसाद से अर्जुन! तुम परमशान्ति प्राप्त कर लोगे। यह अड़गड़ पथ जहाँ पहुँचाता है, वहाँ पहुँच जाओगे और उस स्थान को प्राप्त कर लोगे जो शाश्वत है। तुम रहोगे और तुम्हारा अनन्त जीवन! इस प्रकार पूरा वह है जो सम्पूर्ण हृदय से एक इष्ट में लगते हैं। पूर्ण समर्पण! अधूरे कौन? जो आधे मन से लगते हैं। एक सन्त ने कहा कि तुम एक साथ दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकते। ऐसा नहीं है कि तुम परमात्मा को खुश कर लो, साथ ही माया को भी प्रसन्न कर लो। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं–

तुलसी मन तो एक है, भावै जहाँ लगाय।
भावै हरि की भक्ति कर, भावै विषय कमाय॥

सारांशतः सम्पूर्ण भाव से जो लग गया, जिसने अपना शीश समर्पित कर दिया, पूर्वाग्रहों, मान्यताओं को त्यागकर गुरु के प्रति समर्पित हो गया, वही इस अत्यन्त जटिल और कठिन परमार्थ पथ पर सफल होगा। अग्रेतर सन्त कहते हैं कि यह रास्ता पूर्णतः सच्चा रास्ता है– '**सच्चा साफ अमीरी रस्ता, सच्चे साहिब शूरों का**'- यह सच्चा, पूर्णतः सत्यपथ है, स्पष्ट पथ है, सन्देहमुक्त पथ है। यह अमीरों का रास्ता है जो दैवी सम्पद् का अर्जन करने के लिए कटिबद्ध है। कल्पना करें, सन्त कबीर के समय में अमीरों का रास्ता, सुलतान और बादशाहों का रास्ता कितना सुविधासम्पन्न रहा होगा। उनके मार्ग पर पुष्पवर्षा होती थी। सामान्यजन उस मार्ग से नहीं चल सकते थे। उसी प्रकार इस अड़गड़ पथ पर उस 'साहिब' प्रभु के सच्चे और शूरवीर भक्त ही चल पाते हैं।

यह वीरों का पथ है। इसमें अपने मन से ही युद्ध करना है, अपने ही मन को मारना है– '**मन को मारि गगन चढ़ि जावे। अमरित घर की भिक्षा पावे। उजड़ा शहर बसावे।।**'। सन्त सहजो बाई कहती हैं–

मन मथि मरे न जीवे, जीवहिं मरण न होय।
सहज सनेही राम बिनु, भव पार न पावै कोय।।

मन को इतना मथो, नाम-जप में इतना लगाओ कि यह मर जाय। यह आशा और तृष्णा से रहित हो जाय। पुनः यह जीवित न हो तभी जीव मृत्यु से मुक्त हो सकता है। मन मिटा, यही भव-पार की अवस्था है; किन्तु राम से सहज स्नेह, हार्दिक लगाव के बिना कोई भव का पार नहीं पा सकता। '**कच्चा अरु मटमैला रस्ता, कच्चे कायर कूरों का।**'- जो सन्देहयुक्त हैं उनका रास्ता कच्चा, कीचड़युक्त और मटमैला है। उस पथ पर आगे का मार्ग दिखायी नहीं देता। अनुभवशून्य साधकों का रास्ता मटमैला है। ऐसा मार्ग कच्चे आधे-अधूरे मन से लगने वाले, कायर जो भजन की लपट से घबड़ाने वाले, मात्र बड़ी-बड़ी बातें करनेवाले, अपनी आत्मा को अधोगति में पहुँचाने वाले क्रूरकर्मी नराधमों का है।

ईश्वर-पथ में यदि आप प्रवृत्त होते हैं, मनोकामनाओं की पूर्ति अयाचित होने लगती है। अतः साधक को कुछ भी माँगना नहीं चाहिए। आप अपनी क्रिया करते भर जायँ। भगवान जानते हैं कि आपका हित किसमें है वह वही व्यवस्था देंगे, इसलिए फल उनकी कृपा पर छोड़ दें।

श्रीरामचरितमानस का आख्यान है कि नारद जी ने दक्ष प्रजापति के पुत्रों को उपदेश देकर विरक्त सन्त बना दिया जिससे रुष्ट होकर दक्ष ने नारद को श्राप दिया कि वह किसी स्थान पर अधिक समय तक न रुक सकें, लोगों को वैराग्य की ओर वह प्रेरित न कर सकें। श्राप से व्यथित नारद हिमालय की सुरम्य उपत्यका में भगवच्चिन्तन में डूब गये। भगवान की कृपा से श्राप का प्रभाव टल गया। वह अखण्ड समाधि की अवस्था तक पहुँच गये। उन्होंने काम पर विजय प्राप्त कर लिया। इस सफलता को उन्होंने अपनी उपलब्धि मान लिया। चिन्तन से विरत होकर वे इसके प्रदर्शन में प्रवृत्त हो

गये। इसी क्रम में वह विश्वमोहिनी के स्वयंवर में जा पहुँचते हैं। कन्या के अलौकिक रूप एवं गुणों पर विमुग्ध नारद उससे विवाह के लिए आतुर हो उठे। सहायता लेने वह भगवान के पास गये। उन्होंने विचार किया– '**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**'- परमपद की इच्छावाले ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। अभी तक हमने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया है। यदि आज विवाह की इच्छा व्यक्त करूँ तो प्रभु अवश्य मना करेंगे। विश्वमोहिनी वरमाला उसे ही पहनायेगी जो सबसे अधिक रूप-सौन्दर्यसम्पन्न हो। भगवान से अधिक सुन्दर कोई है भी नहीं; क्यों न मैं इनसे इनका रूप ही माँग लूँ! उन्होंने प्रभु का रूप माँग लिया। भगवान ने भी 'तथास्तु' कहते हुए अपने अनन्त रूपों में से एक रूप हरि अर्थात् बन्दर की आकृति प्रदान कर दिया। नारद अपनी योजना पर प्रसन्न हो रहे थे, उन्होंने कहा– ''प्रभो! जिसमें हमारा हित हो, वही कीजिएगा।'' भगवान ने आश्वासन दिया–

जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु, बचन न मृषा हमार॥

(रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 132)

आप हित की बात करते हैं, हमने आपका परम हित सोच लिया है। नारद प्रसन्न थे कि काम तो बन गया लगता है। वह वहाँ से सीधे स्वयंवर स्थल पहुँचे। सबने उठकर नारद जी को दण्ड-प्रणाम किया। नारद ने विचार किया कि मैं नारद तो हूँ नहीं, मेरा चेहरा भगवान का है तभी तो इतना तेज है कि सभी प्रणाम कर रहे हैं। भगवान शंकर के दो सेवक भी इस दृश्य का आनन्द ले रहे थे। वे व्यंग कर रहे थे– क्या अनुपम सौन्दर्य है! साक्षात् हरि हैं। अब तो राजकुमारी इनका ही वरण करेंगी। राजकन्या को नारद भयङ्कर आकृति के बन्दर जैसे दिखायी पड़े। '**जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहिं न बिलोकी भूली॥**' *(रामचरितमानस, 1/134/1)*- क्रोधित राजकन्या ने उस पंक्ति की ओर देखा भी नहीं जिसमें नारद जी बैठे थे। एक ओर भगवान भी बैठे थे। कन्या ने उन्हें जयमाला पहनाया और उन्हीं के साथ चली गयी।

अब तो नारद जी बहुत तड़पे। इतना बड़ा आघात वह सहन न कर सके। उन्होंने झटपट भगवान को श्राप दे डाला। '**जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी।।**' *(रामचरितमानस, 1/137/1)*- भगवान ने अपनी माया का आवरण ही हटा लिया। लक्ष्मी नश्वर और राजकुमारी भी नश्वर– '**नहिं तहँ रमा न राजकुमारी।**' सत्य जो कुछ था और आगे था। जब नारद जी की उस पर दृष्टि पड़ी, वह भगवान के चरणों में गिर पड़े कि आपने मुझे बचा लिया। हमारा श्राप व्यर्थ चला जाय। भगवान ने कहा– वह भी मेरी इच्छा है– '**मम इच्छा कह दीनदयाला।**'

इस प्रकार भगवान के प्रति कोई समर्पित होकर चलता है तो प्रभु जानते हैं कि इस जीव का हित किसमें है, वह वही व्यवस्था करेंगे। इसलिए ईश्वर-पथ, इस जटिल पथ के पथिक को कभी माँगना नहीं चाहिए। फिर वह कभी धोखा नहीं खा सकता।

जप तप करके स्वर्ग कमाना, यह तो काम मजूरों का।

जप-तप-संयम सबकुछ करके बदले में किसी ने स्वर्ग ही माँग लिया, '**यह तो काम मजूरों का**'- उसने मजदूरी की और बदले में पा गया। स्वर्ग भी क्या है? '**स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदायी।**'- स्वर्ग बहुत अल्प और परिणाम दुःखदायी है।

कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना।।

(रामचरितमानस, 1/5/4)

दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिअ सुजीवन माहुरु मीचू।।

(रामचरितमानस, 1/5/6)

सरग नरक अनुराग बिरागा। निगमागम गुन दोष बिभागा।।

(रामचरितमानस, 1/5/9)

विधाता का प्रपंच गुण और दुर्गुणों से सना हुआ है। स्वर्ग-नरक, देवता-दानव ये विधाता के प्रपंच हैं। यदि हमने इनमें से कुछ माँगा तो हमने

प्रपंच में से ही कुछ माँगा है। भोग की निम्नतम सीमा नरक तो अधिकतम सीमा स्वर्ग है; किन्तु वह भी स्वल्प और परिणाम में दुःखदायी है इसलिए–

देना सब कुछ लेना कुछ नहीं, बाना झाँकर झूरों का।

सर्वस्व का दान कर दें। अपनी दृष्टि का, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध और सारे संसार के मूल इस मन का भी दान कर दें। इसे इष्ट के चरणों में समर्पित कर दें। मन में क्षमता ही कहाँ है कि सत्य माँग ले।

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

(रामचरितमानस, 3/14/3)

कदाचित् मन-बुद्धि ने बहुत सोच समझकर कुछ माँग ही लिया तो वह माया के क्षेत्र का ही कुछ ऊँचा-नीचा स्तर ही तो माँगा। इसलिए सर्वस्व का समर्पण करें। यही है '**देना सब कुछ**'।

इतिहास में कई प्रसिद्ध दानदाताओं के उल्लेख हैं। राजा मोरध्वज ने अपने पुत्र को ही आरे से चीर दिया, कर्ण ने कवच और कुण्डल दे दिया, राजा हरिश्चन्द्र ने स्वप्न में ही अपने राज्य का दान कर दिया। इससे भी बड़ा दान ऋषि अष्टावक्र ने राजा जनक से माँगा– मन का दान! यह सबसे बड़ा दान है।

एक दिन राजा जनक ने स्वप्न देखा कि वे भिक्षा माँग रहे हैं। प्रातः उन्होंने पाया कि वह यथावत् राज्य कर रहे हैं। उनके मन में कुतूहल हुआ कि इन दोनों दृश्यों में कौन सत्य है? यह प्रश्न उन्होंने विद्वानों तथा अनेकानेक महात्माओं से पूछा कि वह सत्य है या यह सत्य है? किन्तु सन्दर्भ-प्रसंग न जानकर कोई भी उत्तर न दे सका। इसी क्रम में महर्षि अष्टावक्र भी राजदरबार में पधारे। उनकी टेढ़ी-मेढ़ी आकृति देख सभासद हँस पड़े। राजा को भी हँसी आ गयी। जब सबकी हँसी रुकी तो अष्टावक्र हँसने लगे। लोगों ने सोचा कदाचित् यह पागल हो। राजा जनक ने विनम्रता से पूछा– महाराज! आप हँसे क्यों? ऋषि ने कहा– पहले आप लोग अपने हँसने का कारण बतायें।

सभासदों ने बताया– ''ऋषिवर! आपसे पूर्व अनेकानेक रूप-सौन्दर्यसम्पन्न महात्माजन यहाँ पधारे; किन्तु कोई भी राजा के प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका। आपके हाथ पीछे की ओर मुड़े हैं, दाँत ऊपर को जा रहे हैं, आँखें तिरछी हैं, पाँव उलटे हैं। आपके तो अंग ही बेडौल हैं, आप क्या समाधान देंगे! इसीलिए हमलोगों को हँसी आ गयी।''

अष्टावक्र ने कहा– ''हमने सुन रखा था कि जनक की सभा ज्ञानियों की सभा है किन्तु आज देखा कि जनकसमेत उनकी पूरी सभा चमारों की है क्योंकि ये चमड़े की अच्छी पहचान-परख रखते हैं। शरीर का चर्म तो रहने के लिए एक वस्त्र है। न जाने सृष्टि में कैसी-कैसी आकृतियाँ हैं लेकिन जहाँ मैं स्थित हूँ, वह है आत्म-स्थिति! क्या आत्मा के दाँत ऊपर की ओर हैं, क्या उसकी दृष्टि तिरछी है, क्या पाँव पीछे मुड़े हुए हैं? वह तो शाश्वत, सनातन अपरिवर्तनशील है।'' सभा में सन्नाटा छा गया।

राजा जनक ने क्षमायाचना कर अपना प्रश्न प्रस्तुत करने की अनुमति माँगी। अष्टावक्र ने कहा– ''राजन्! पहले कुछ दान-दक्षिणा तो करें!'' जनक ने कहा– ''आप जो आज्ञा करें, प्रस्तुत है; यदि मेरे प्रश्न का उत्तर मिल जाय।'' अष्टावक्र ने कहा– ''जो आपके पास अपनी वस्तु है वही आप हमें दें।'' राजा ने एक लाख गायें समर्पित किया किन्तु ऋषि ने अस्वीकार कर दिया। क्रमशः उन्होंने सम्पूर्ण राज्य अर्पित करने का प्रस्ताव किया। ऋषि ने कहा– ''इससे भी बड़ी वस्तु आपके पास है।'' जनक की समझ में नहीं आया कि यह चाहते क्या हैं। उन्होंने अनुरोध किया कि ऋषिवर ही बतायें। अष्टावक्र ने कहा– ''राजन् ! आप अपना मन हमें दे दें।'' राजा ने संकल्प लिया। अष्टावक्र ने उसे स्वीकार किया और एक किनारे बैठकर ध्यानस्थ हो गये।

जनक पूर्वाह्न से खड़े थे, अपराह्न हो आया। ऋषि ने उन्हें आसन ग्रहण करने तक को नहीं कहा। उन्हें किञ्चित् रोष हो आया कि हमने इनकी मुँहमाँगी वस्तु दे दी फिर भी ऋषि एक ओर बैठ गये, मेरे प्रश्न का उत्तर भी नहीं दिया। अकस्मात् जनक का ध्यान गया कि जब हमने मन ही दान में

दे दिया तो यह संकल्प-विकल्प कहाँ से उठ रहा है। लगता है हमने अभी दिया ही नहीं, केवल कहा भर है। बस, जनक ने सोचना बन्द कर दिया। शाम होते-होते जनक का मन समाधि में परिणत हो गया। उस समाधि में ऋषि ने राजा के हृदय में प्रेरणा करके बताया कि जो स्वप्न देखा है कि भिखारी बनकर घूम रहे हो, न वह सत्य है और जगने पर जो राज्य कर रहे हो– यह भी सत्य नहीं है। सत्य आपका स्वरूप है जिसे थोड़ा और परिश्रम करके प्राप्त कर लो। इतना बोध होते ही जनक उन महापुरुष के चरणों में गिरे, उस रास्ते पर चलकर अपने युग के सर्वोपरि महापुरुष हुए। अमलात्मा महात्मागण भी जनक से ज्ञान लेने जाया करते थे। इस प्रकार मन का दान सर्वोपरि दान है। इसी को देना '**देना सब कुछ**' है। आपने अपना व्यवसाय दे दिया, शोरूम दे दिया– आपने कुछ भी नहीं दिया। आपके मन के अन्तराल में समूची सृष्टि भरी पड़ी है। इसलिए मन को ही समर्पित करें। इसका अर्पण शीश समर्पण करना है। यही सबकुछ देना है।

और '**लेना कुछ नहीं**'- बदले में माँगना कुछ नहीं, कोई कामना नहीं, याचना नहीं; निष्काम कर्म करते जायँ। '**बाना झाँकर झूरों का**'- ऐसे योगी का रहन-सहन कैसा होता है? उसका बाना कैसा होता है? वह न भगवाधारी होता है न तिलक-छाप-मुद्राधारी! वह किसी मज़हब-सम्प्रदाय का पृष्ठपोषक नहीं होता। कबीर ने कभी कथरी लपेटा, कभी कमरी तो कभी कोपीन मात्र। उनके लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं रह जाता।

बड़ा देव गद्दी पर बैठा, तब क्या ढोना घूरों का।

सबसे बड़ा देव परमदेव परमात्मा हृदयरूपी सिंहासन पर बैठ गया '**तब क्या ढोना घूरों का**'- तब सांसारिक मान-प्रतिष्ठा, अर्जित उपाधियाँ, कुलीनता, मज़हब और परम्पराओं की क्या कीमत? सुतीक्ष्ण अच्छे भजनानन्दी महात्मा थे। उन्हें इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि हृदय में स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया। जब उन्होंने सुना कि राम इसी वन में आ गये तो वह अधीर हो उठे–

हे बिधि दीन बन्धु रघुराया। मोसे सठ पर करिहहिं दाया।।

(रामचरितमानस, 3/9/4)

क्या प्रभु मुझ जैसे शठ पर दया करेंगे? '**मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं।।**'- मुझमें न भक्ति है, न ज्ञान है, न वैराग्य है। '**एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की।।**'- परमात्मा का एक ही स्वभाव है कि उन्हें वही प्यारा होता है जिसे दूसरे अन्य किसी का भरोसा नहीं है। इसलिए '**होइहैं सुफल आज मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन।।**'- आज मेरे नेत्र अवश्य सफल होंगे। वह बीच रास्तें में ही बैठ गये, चिन्तन में डूब गये। '**अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा।।**'- अत्यन्त प्रेम देखकर भगवान मुनि के हृदय में ही प्रकट हो गये। उनके मन के सिंहासन पर भगवान ने अपना स्थान ग्रहण कर लिया। इसी को कबीर कहते हैं, '**बड़ा देव गद्दी पर बैठा**'– सर्वोपरि, जिसके आगे कोई नहीं, जब वही गद्दी पर बैठ गया '**तब क्या ढोना घूरों का**'- तब सांसारिक मान-प्रतिष्ठा का कोई मूल्य नहीं रह जाता।

भरत नामक एक नरेश थे। वह ऋषभदेव के पुत्र थे। एक दिन उन्होंने अपने प्रधान अमात्य से कहा, ''मंत्रिवर! इस विशाल महेन्द्र पर्वत के उत्तुंग शिखर पर मेरा यशोगान उत्कीर्ण करायें।'' मंत्री शिखर तक जाकर लौट आये और निवेदन किया, ''महाराज! एक भी चट्टान ऐसी नहीं है जिस पर किसी न किसी नरेश का यशोगान न लिखा हो। आपकी आज्ञा हो तो उन्हें मिटा दें।'' राजा ने स्वयं शिखर पर जाकर देखा तो एक से बढ़कर एक प्रशस्तियाँ– कोई दिग्विजयी तो कोई चक्रवर्ती नरेश, इतिहास में जिनका उल्लेख तक नहीं, किंवदन्तियों में जिनकी गाथा नहीं, जनमानस में जिनकी कल्पना भी न थी। राजा ने कहा– ये यशोगान भी व्यर्थ हैं। यह यश, मर्यादा, कुलीनता, लोकरीति, देशरीति– इन्हें क्या ढोना! ये नश्वर हैं जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं है, जिन्हें मिट जाना है। यही कबीर कहते हैं– '**तब क्या ढोना घूरों का**'। और '**मस्त हुआ जब अनहद सुनकर**'- हद कहते

हैं सीमा को, अनहद कहते हैं असीम को! जब साधक ने उस असीम अनन्त परमात्मा की आवाज सुन ली, उसी में आह्लादित हो उठा, '**तब क्या सुनना तूरों का**'- उसके पश्चात् सांसारिक वाद्ययन्त्रों, तूर्यघोष इत्यादि से उसका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। अब सृष्टि में ऐसा कोई शब्द नहीं जो उसे रिझा सके, आकर्षित कर सके। उसके रीझने का तो वही शब्द है जो सर्वोपरि है, अनहद असीम-अनन्त है। अगली पंक्ति में कहते हैं–

मुश्किल अगम पंथ का चलना, धारा खाँड़े छूरों का।

यह अड़गड़ पथ अगम पंथ है, अगम्य है। यह मन, वाणी, इन्द्रियों से परे अगोचर पथ है; बुद्धि इसका अटकल नहीं लगा सकती। इसलिए यह पथ मनुष्य की क्षमता से परे है। इस पथ पर चलना बड़ा मुश्किल है। यहाँ खाँड़े और छूरों की धार पर चलने जैसा है। तुलसीदास के शब्दों में–

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।।

(रामचरितमानस, 7/118/1)

यह कृपाण की धार पर चलना है अतः दुष्कर है। महर्षि विश्वामित्र ने भजन आरम्भ किया, कई बार उत्थान-पतन का अवसर आया। माया कब घसीट ले, ज्ञात ही नहीं होता। इस अगम पथ पर चल कौन पाता है? इस पर कहते हैं–

कहत कबीर सुनो भाई साधो! अगम पंथ कोई शूरों का।
यहाँ नहीं काम अधूरों का।

सन्त कबीर हर साधु को अपना भाई कहकर सम्बोधित करते हैं। वह जानते हैं कि जिस रास्ते से चलकर मैंने यह स्थिति प्राप्त की है, यदि चलने वाला पथिक है तो उसी स्थिति को एक दिन प्राप्त कर लेगा, मेरे ही समकक्ष हो जायेगा, अस्तु उन्हें भाई की संज्ञा दी। उनसे उन्होंने कहा कि यह अगम पंथ किसी-किसी शूरवीर का होता है।

सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।
बिद्यमान रन पाइ रिपु, कायर कथहिं प्रतापु।।

शूरवीर कहता नहीं, कर दिखाता है। भजन करने का भी ऐसा ही नियम है–

सुमिरन ऐसा कीजिए, जाने सुमिरनहार।
या जाने करतार ही, ना जाने संसार॥

या तो भजन करने वाला जानता है या वह प्रभु जानते हैं। संसार जानने न पाये। संसार को दिखाने की क्या आवश्यकता है? यह प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। पूज्य गुरुदेव कहा करते थे– ''भजन इतना गोपनीय होना चाहिए कि बगल में बैठनेवाला भी समझ न सके कि यह इस समय भजन कर रहा है। इस प्रकार रात-दिन भजन करना चाहिए।'' यह अड़गड़ पथ, अगम पथ किसी शूरवीर के क्षेत्र की वस्तु है।

!! बोलिये श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय!!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 2:2)

बहुरि न अइहैं कोऊ शूरों के मैदान में

एक साधक का समर्पण कैसा होना चाहिए? सब भजन ही तो करते हैं, सब शरण ही तो आते हैं। सद्गुरु की शरण आये साधक के क्या लक्षण होने चाहिए? इस पर सन्त कबीर का एक भजन इस प्रकार है–

बहुरि न अइहैं कोऊ शूरों के मैदान में॥

शूरों के मैदान में कूरों का क्या काम है।
शूरे को शूरा मिले, तब पूरा संग्राम है॥
बहुरि न अइहैं.....॥

शीश राखि जो जूझा चाहे, यह कूरों का काम है।
रुण्ड लड़े सदगुरु के आगे, तब पूरा संग्राम है॥
बहुरि न अइहैं.....॥

बड़ी-बड़ी बातें भोदूँ मारैं, दिल की जाने राम हैं।
कहे कबीर तेइ नर शूरा, जिन पर रीझे राम हैं॥
बहुरि न अइहैं.....॥

शूरवीरों की एक ऐसी रणस्थली है जहाँ पर एक बार कोई लड़ गया तो दुबारा लौटकर फिर कभी नहीं लड़ना पड़ता, जबकि सृष्टि में ऐसी कोई रणस्थली नहीं है जिसमें हजारों बार लड़ाइयाँ न हुई हों और आज भी होती जा रही हैं। सन्त कबीर ने एक ऐसा रणस्थल ढूँढ़ निकाला है कि एक बार

उसमें कोई लड़ ले तो दुबारा उस मैदान में लड़ने के लिए नहीं आता। यह रणांगन है भक्ति का और भक्तिपथ शूरवीरों का रास्ता है, क्योंकि–

राम नाम दुर्लभ अति, औरन ते नहिं काम।
आदि अन्त अरु युग-युग, रामहिं ते संग्राम॥

राम-नाम अति दुर्लभ है। दुर्लभ है तो आप क्यों झंझट पालते हो? सन्त कबीर कहते हैं कि नहीं, झंझट में तो पड़ना पड़ेगा क्योंकि '**औरन ते नहिं काम**'- अन्य किसी भी विधि से कार्य की सिद्धि नहीं होगी। इसलिए कल्याण के लिए आदि अर्थात् भजन का आरम्भ और अन्त अर्थात् प्राप्तिकाल– इसमें चाहे युग-युग व्यतीत हो जायँ, यदि संग्राम है तो केवल राम से है। भक्तिपथ एक युद्धस्थल है।

आदिशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने आराधना को युद्ध की संज्ञा दी। अर्जुन ने प्रश्न किया– ''भगवन्! यह मनुष्य न चाहते हुए भी किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है, बलपूर्वक जैसे उसे पाप में प्रवृत्त करा दिया गया है?'' इस पर भगवान श्रीकृष्ण ने बताया–

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ *(गीता, 3/37)*

बलपूर्वक घसीटकर पाप कराने वाले काम और क्रोध भोगों से कभी तृप्त न होने वाले महान् पापी हैं। इस पथ के यही दुर्जय शत्रु हैं। इन्हीं से विवश होकर मनुष्य पाप का आचरण करता है। जैसे– धुएँ से अग्नि, मैल से दर्पण और जेर से गर्भ ढँका रहता है इसी प्रकार कामरूपी दुर्जय शत्रु के द्वारा यह आत्मा ढँका हुआ है। यह ज्ञान और विज्ञान का विनाश करने वाला दुर्जय शत्रु है। अपनी शक्ति को समझकर असंगतारूपी शस्त्र द्वारा इस दुर्जय शत्रु को मार डाल, युद्ध कर! जब शत्रु भीतर है तो बाहर कोई किसी से क्यों लड़ेगा? वास्तव में यह अन्तःकरण की लड़ाई है। इसी का समर्थन ईश्वरपथ के प्रत्येक सच्चे महापुरुष ने किया है। सन्त कबीर ने भी कहा कि यह एक ऐसा रणस्थल है जहाँ एक बार विजय पा लिया तो शाश्वत विजय है। उसे

लौटकर संसार में न तो आना है और न ही संसार उसका रणस्थल रहेगा; क्योंकि–

जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥

(मानस, 1/111/2)

उसे जान लेने के बाद जगत् ही खो जाता है; जैसे– जग जाने पर स्वप्न-भ्रम समाप्त हो जाता है। संसार ही तो रणस्थल था, वही खो गया और भजने वाला उसी की स्थिति में आ गया, वह लौटकर आवागमन में नहीं आयेगा। यही है '**बहुरि न अइहै कोई शूरों के मैदान में।**'

'**शूरों के मैदान में कूरों का क्या काम है।**'– शूरवीरों के इस मैदान में कायरों के लिए स्थान नहीं है। मान लें इस क्षेत्र के लिए कोई शूरवीर तत्पर हो, सच्चा साधक हो, प्राणपण से लगनेवाला हो किन्तु यदि उसे सद्गुरु नहीं मिला तो सब व्यर्थ है इसीलिए '**शूरे को शूरा मिले तब पूरा संग्राम है।**'- शूर को जब कोई शूर मिलता है, उस रास्ते से गुजरा हुआ महापुरुष मिलता है, सद्गुरु मिल जाता है तभी संग्राम सम्पन्न हो पाता है।

गुर बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥

(रामचरितमानस, 7/92/5)

गुरु के बिना भवसागर कोई पार होता ही नहीं। यहाँ तक कि विधाता और शंकर की अवस्था वाला भी यदि गुरु से विछोह हो गया तो आगे की दूरी तय नहीं होगी। इसीलिए सन्त कबीर ने कहा–

कबिरा हरि के रूठते, गुरु के सरने जाय।
कह कबीर गुरु रूठते, हरि नहिं होत सहाय॥

सन्त कबीर कहते हैं कि यदि हरि रूठ जाते हैं तो गुरु की शरण में जाना चाहिए। भगवान कैसे मनाये जाते हैं?– उस विधि को वह जागृत कर देंगे, उस पथ पर चला देंगे, भगवान पुनः अनुकूल हो जायेंगे; किन्तु यदि सद्गुरु ही उपलब्ध नहीं है अथवा रूठ गये हैं तब तो भगवान भी सहायक

नहीं होते क्योंकि परमात्मा यदि परमधाम है तो भजन के आरम्भ से पूर्तिपर्यन्त सद्गुरु ही उस धाम के प्रवेशद्वार और मार्गदर्शक हैं। उस शूरवीर साधक को पूरा सद्गुरु उपलब्ध हो तब संग्राम होगा। सद्गुरु की शरण में जाने वाले शिष्य को कैसा होना चाहिए? इस पर कहते हैं–

शीश राखि जो जूझा चाहे, यह कूरों का काम है।
रुण्ड लड़े सदगुरु के आगे, तब पूरा संग्राम है॥

अपना शिर रखकर युद्ध करना कायरों का काम है। यदि शीश ही कट गया तो कोई कैसे युद्ध करेगा? शीश देने का अर्थ है अपना पूर्वाग्रह, अपनी समझ, अपनी सूझ-बूझ लगाना– इन सबका त्याग, समर्पण उन चरणों में करना होगा। इसके पश्चात् गुरु क्या निर्देश देते हैं, कौन-सी विद्या देते हैं, साधना की कौन-सी विधि प्रदान करते हैं उसे अपने मस्तिष्क में धारण करते हुए चलना है– यही शीश चढ़ाना है। गुरु कुछ कहता है शिष्य अपनी सूझ-बूझ से उसमें संशोधन कर लेता है, वह कभी कामयाब नहीं हो सकता। अपने पूर्वाग्रहों को त्यागकर, इस प्रकार शीश चढ़ाकर, केवल रुण्ड अर्थात् धड़ की तरह लड़ते रहो। रुण्ड में सोचने-विचारने की क्षमता नहीं रह जाती। शिष्य को रुण्ड की तरह लड़ना चाहिए, तभी सच्चा संग्राम है। कदाचित् हम शीश नहीं दे सके तब?–

बड़ी बड़ी बातें भोंदू मारें, दिल की जाने राम हैं।
कहै कबीर तेइ नर शूरा, जिन पर रीझे राम हैं॥

यदि शिष्य अपने पूर्वाग्रह बचाकर रखता है तो गुरु की विद्या किस मन में समायेगी? वह तो अभी अपनी बौद्धिक उड़ान में उलझा हुआ है। ऐसे लोग कितना ही ज्ञान बतायें, मूलतः वे भोंदू हैं। विद्यालय के मन्दबुद्धि छात्रों को भोंदू कहा जाता है। ऐसे छात्र बातें तो लम्बी-चौड़ी करते हैं किन्तु वह शिक्षा ग्रहण नहीं करते। साधन-क्षेत्र में इसी प्रकार पूर्वाग्रही शिष्य बातें तो ज्ञान की करते हैं किन्तु उनका क्रियात्मक पक्ष शून्य रहता है। कबीर के शब्दों में– '**दिल की जाने राम हैं**'- वह परमात्मा आपके हृदय की जानते हैं। पूज्य

गुरुदेव कहते थे– जो साधक के हृदय में हो, वही जुबान पर भी होना चाहिए। बाहर कुछ, भीतर कुछ और, ऐसा साधक सफल नहीं होता– '**मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।**' *(रामचरितमानस, 5/43/5)* इसलिए '**कहे कबीर तेइ नर शूरा, जिन्ह पर रीझे राम हैं।**'। कबीर कहते हैं– वही नर सच्चे शूरवीर हैं जिन्ह पर प्रभु रीझ जायँ।

कबीर मन निर्मल भया, जैसे गंगा नीर।
पाछे लागे हरि फिरें, कहत कबीर कबीर।।

जहाँ साधक का मन निर्मल हुआ, समर्पित हुआ– '**पाछे लागे हरि फिरें**'- नन्हे शिशु के चतुर्दिक जैसे माताएँ और उसके संरक्षक लगे रहते हैं कि इधर पाँव न रख, यह गन्दा है इसे मत छू, सीढ़ी पर न चढ़ो गिर जाओगे। वह आग पकड़ना चाहता है, माँ उसे उठाकर दूर कर देती है। ठीक इसी प्रकार भगवान योगक्षेम वहन करने लग जाते हैं। अस्तु, सच्चा शूरमा वही है जिस पर वह प्रभु रीझ जायँ, प्रसन्न हो जायँ।

गुरुनानक ने भगवान से कहा– प्रभो! मैं कुछ भी माँग बैठूँ, आप देना मत! केवल एक दया करें कि मैं आपको भा जाऊँ, प्यारा लगूँ। एक साधक का समर्पण ऐसा ही होना चाहिए। सद्गुरु की शरण में जब जायँ, अपनी सूझबूझ, समझ पर विराम लगा देना चाहिए। सद्गुरु जो विद्या दें उसे धारण करें और रात-दिन एक करके उसमें लग जायँ–

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।
सुरत डोर लागी रहे, तार टूट ना जाय।।

यही रात-दिन लड़नेवाला सच्चा शूर है।

!! बोलिये श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 2:3)

छाओ छाओ हो फकीर गगन में कुटी

सन्त कबीर का यह भजन परमपूज्य गुरुदेव भगवान के कर्णकुहरों में उस समय पड़ा जब भगवान के निर्देशों के अनुपालन में आप भजन की मस्ती में नंग-धड़ंग, कभी कटिप्रदेश में सामान्य-सा चीवर लपेटे निराधार विचरण कर रहे थे। उन दिनों उत्तर प्रदेश के मनकापुर स्टेट गोण्डा में आपका परिभ्रमण चल रहा था। पूज्य महाराज जी रात-रात भर बैठकर भजन करने वाले महात्मा थे। निर्जन एकान्त खेतों की पगडण्डियों से चलते हुए आप कहीं बाँसों का झुरमुट तलाश लेते और सायंकाल होते ही उसी स्थल पर बैठकर चिन्तन में डूब जाते थे। आप दो-एक बार पैरों को ऊपर-नीचे कर लेते और सवेरा हो जाता।

एक रात जब महाराज जी झाड़ियों में बैठकर भजन कर रहे थे, दूर बड़ा उजाला दिखायी पड़ा। बीच-बीच में कुछ-न-कुछ हो-हल्ला, शोरगुल भी सुनायी पड़ जाता था। वाद्ययन्त्रों की ध्वनि भी यदा-कदा आ जाती थी। आपने सोचा, कहीं कोई उत्सव होगा! क्या प्रयोजन? भजन में लग गये। रात को दो बजे एक ऐसा भजन सुनाई पड़ा कि महाराज उठकर खड़े हो गये। भजन इतना साधनापरक था कि उसके बोल दुहराते, महाराज जी भीड़ को चीरते-फारते संगीत मंच के एकदम पास पहुँच गये। स्टेट की राजकुँअरी का विवाहोत्सव था। राजसी वैभव के साथ धूमधाम से बारात आयी थी। नृत्य-गान की महफिल में छत्तीसों राग-रागनियाँ बज रही थीं। प्रत्येक घड़ी का अलग-अलग राग गाया जा रहा था। उस समय नृत्यांगना सूफी संतों का-सा वेष बनाये, चूड़ीदार पैजामा-कुरता पहने, टोपी लगाये यह भजन गा रही

थी। भजन योग-साधना से सम्बन्धित था इसलिए महाराज जी चाहते थे कि उसे जल्द याद कर लें किन्तु याद ही न हो; फिर भी जितना उन्हें याद था बड़े भाव से हमलोगों को सुनाया करते थे जिसे सुनकर अनुसुइया के नीरव शान्त-एकान्त में हफ्तों बीत जायँ कभी मन में उच्चाटन न हो, कोई स्फुरण न हो। महाराज जी ने बताया था कि, ''हो! यह भजन सुनते ही हमारी श्वास एकदम बाँस की तरह खड़ी हो गयी।'' भजन इस प्रकार है–

छाओ छाओ हो फकीर गगन में कुटी॥

आसन मारि मगन होइ बैठे, ध्यान धरे लउके त्रिकुटी।
छाओ छाओ हो.....॥

नेह की नींव करो मजबूती, सार सबद की भीत उठी।
छाओ छाओ हो.....॥

बुद्धि बड़ेर ज्ञान का कोरवा, भाव भगति की छानी बनी।
छाओ छाओ हो.....॥

दया दुआरि छमा का बेड़ा, शील सन्तोष की टाटी बनी।
छाओ छाओ हो.....॥

कहै कबीर अगम गोहरावै, आवागमन की फिकर मिटी।
छाओ छाओ हो.....॥

इस भजन में बताया गया है कि साधना आरम्भ कहाँ से किया जाय? अन्त में वह साधक स्वरूप की प्राप्ति करता है तो उसका मापदण्ड क्या है? सन्त कबीर ने कहा– '**अगम गोहरावै**'– जब परमात्मा स्वयं पुकारे तभी आवागमन की दुश्चिन्ता मिटती है, केवल मन के मान लेने से नहीं।

अब आइए, भजन की आरम्भिक पंक्ति पर विचार करें। '**छाओ छाओ हो फकीर**'- फकीर ईश्वर-पथ का वह लगनशील साधक है जिसने संसार की सारी चिन्ता, सारे फिकर त्यागकर, उनसे निर्लेप रहकर, अविचलित रहकर प्रभु के लिए प्रयत्नशील है। ऐसे फकीर का दायित्व क्या है? '**छाओ**

छाओ हो फकीर'- छाओ-छाओ का तात्पर्य है निरन्तर लगे रहो। ऐसी कुटी फकीर ही छा सकता है। लेकिन छाये कहाँ? तो '**गगन में कुटी**'- गगन आकाश को कहते हैं, शून्य को कहते हैं। जब वायु से भी तीव्र चलने वाला यह मन अचल स्थिर ठहर जाय, संकल्प-विकल्प से रहित होकर शून्य में स्थिर हो जाय, यही अवस्था आकाश में टिकने की है। मन के अन्तराल में समग्र सृष्टि का निवास है–

असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि, सब मनि महँ रह जैसे।
सरग नरक चर अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे॥

(विनयपत्रिका, पद 124/3)

असन अर्थात् भोजन, वसन अर्थात् वस्त्र, पशु इत्यादि हर प्रकार की सुविधाएँ एक बहुमूल्य मणि से क्रय की जा सकती हैं, प्रकारान्तर से ये सब वस्तुएँ मणि में निवास करती हैं। ठीक इसी प्रकार स्वर्ग, नरक, अपवर्गपर्यन्त लोक-लोकान्तर इस मन के मध्य निवास करते हैं। जब जिसका क्रम आता है, यह मन पिण्ड रूप में फेंकता रहता है।

बिटप मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाये।
मन में तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये॥

(विनयपत्रिका, 124/4)

जिस प्रकार एक वृक्ष में हर प्रकार का फर्नीचर विद्यमान है; सूत में हर प्रकार का वस्त्र विद्यमान है– साड़ी-चोली-कुर्ता बनायें या पैराशूट, कुछ भी बना लें; ठीक इसी प्रकार विधाता की अनन्त सृष्टि के कलेवर इस मन के अन्तराल में भी हैं। कर्मानुसार जब जिसका क्रम आता है, वैसा ही कलेवर मिलता रहता है।

यह मन वायु से भी तेज चलने वाला है। आप भजन में बैठते हैं तो भजन में मन नहीं लगता। हर भक्त की यही समस्या है कि मन नहीं लगता, किन्तु साधना के सही दौर में पड़कर, संकल्प-विकल्प से रहित होकर यह मन जब अचल स्थिर होकर शून्य में टिक जाता है वही '**मन को मारि गगन**

चढ़ि जावे'- गगन में टिकना है। कबीर कहते हैं– फकीर! उसी गगन में कुटी बनाओ।

संसार में सभी घर बनाते ही रहते हैं। कोई समुद्र तट पर, कोई गाँव में, कोई वाटिका में, किसी का पचासों मंजिल का महल है, किसी ने देशभर में घर बना रखा है, सब जगह किले बना रखा है; किन्तु समय पूरा हो जाने पर सभी गिर जाते हैं। कुछ न कुछ टकरा जाता है, ऊँचे टावर ध्वस्त हो जाते हैं। किन्तु सन्त कबीर ने एक ऐसा स्थान चुन लिया जहाँ किसी की पहुँच ही नहीं। भौतिक पदार्थ उस कुटी के निर्माण में प्रयुक्त भी तो नहीं होते। वह कुटी दृष्टिगोचर नहीं है तो उसे कोई कैसे गिरायेगा? यह सन्तों की कुटिया है जिसमें–

आसन मारि मगन होइ बैठे, ध्यान धरे लउके त्रिकुटी।

हे फकीर! ऐसी कुटी में आसन मार कर मस्त होकर बैठ जाओ! आसन का अर्थ है– सीधा, शान्त होकर बैठ जाना। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं– '**स्थिर सुखमासनम्।**' *(योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र 46)*– स्थिर और सुखपूर्वक बैठना आसन है। बहुत से लोग आठ-आठ घण्टे एक आसन में बैठे रहते हैं किन्तु सुख शान्ति नहीं पाते, भीतर से कलपते-तड़पते रहते हैं। वस्तुतः सुख और दुःख का उतार-चढ़ाव मन पर है। शरीर के आसन मारने से कहीं मन शान्त होता है? स्पष्ट है कि आसन का सम्बन्ध मन से है।

अग्रेतर सूत्र में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं– '**प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।**' *(योगदर्शन, 2/47)*- प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त अर्थात् परमात्मा में मन लगाने से आसन सिद्ध होता है। यदि संसार में योगासनों के नाम से प्रचलित आसन होते तो प्रयत्न की शिथिलता या अनन्त परमात्मा के ध्यान की अनिवार्यता न होती। वस्तुतः योग-साधना में जो अभ्यास चल रहा है वह इतना परिपक्व हो चले कि स्वतः होने लगे, प्रयास करना न पड़े– यह है प्रयत्न की शिथिलता! साथ ही अनन्त परमात्मा में मन लगने से आसन सिद्ध होता है अर्थात् आसन मन से लगता है।

मान लें किसी ने आसन सिद्ध ही कर लिया तो उससे लाभ क्या है? महर्षि पतञ्जलि के ही शब्दों में '**ततो द्वन्द्वानभिघातः।**' *(योगदर्शन, 2/48)*- आसन की सिद्धि से शीत-उष्ण, राग-द्वेष इत्यादि द्वन्द्वों का आघात नहीं होता। ये द्वन्द्व प्रभाव नहीं डाल पाते। शिशिरकाल में दिगम्बर रहने पर भी ध्यान लग जाने पर पूज्य गुरुदेव को शीत का भान भी नहीं होता था। अतः आसन मन के आसीन होने का नाम है।

आसन मारे क्या भया, गई न मन की आस।
ज्यों कोल्हू के बैल को, घर ही कोस पचास॥

आसन मार ही लिया तो क्या हो गया यदि मन की आशाएँ नहीं मिटीं! कोल्हू में जुता हुआ बैल घर के भीतर रहते हुए भी पचासों कोस का चक्कर लगा लेता है। इसी प्रकार मात्र शान्त बैठने वालों का मन भी न जाने कितनी दूरी का भ्रमण कर लेता है। इस प्रकार केवल बैठना आसन नहीं है। जब मन शान्त होकर अनन्त प्रभु के चरणों में स्थायित्व लेने लगे– यह आसन का आरम्भ है। मन जहाँ-जहाँ जाता है उसे खींचकर प्रभु के चरणों में स्थिर करो, मगन होकर प्रसन्न मुद्रा में ध्यान करो। '**ध्यान धरे लउके त्रिकुटी**'- शारीरिक स्तर पर दोनों भौंहों के मध्य के स्थान को त्रिकुटी कहा जाता है। ध्यान का आन्तरिक स्थल यही है, अभ्यास यहीं से शुरू करते हैं; किन्तु जैसे-जैसे तम, रज और सत्– ये तीनों गुण कूटस्थ होते जायँगे, अनुभव घना होता जायेगा। श्वास के साथ उठने वाले संकल्प तमोगुण, रजोगुण या सतोगुण प्रधान होते हैं। तीनों तरह के संकल्पों को रोकते हुए इष्ट के नाम-रूप में सुरत स्थिर करें। ज्योंही संकल्पों का प्रवाह शान्त हुआ– '**लउके त्रिकुटी**'- अनुभव जागृत हो जायेगा कि परमात्मा के आलोक में क्या-क्या है! जब तक साधक इन प्रपंचों को नहीं छोड़ता, भौतिक चिन्तन करता है तो भला कैसे दिखायी दे। तीनों गुण कूटस्थ हो जायँ, ध्यान जब इस स्तर से गुजरने लगता है तो 'लउके'- दिखायी देने लगता है। ईश्वर कैसे बोलते, पढ़ाते, चलाते हैं, वह दृष्टि जागृत हो जाती है। इसीलिए सन्त कबीर फकीर से गगन में कुटी छाने के लिए अर्थात् शून्य में मन का निरोध करने के लिए कहते हैं।

कुटी छाने के उपकरण क्या होंगे? '**नेह की नींव करो मजबूती**'- नेह कहते हैं स्नेह को, प्रेम को! भजन की जागृति के लिए इष्ट के प्रति प्रेम नितान्त आवश्यक है। एक बार रावण के आतंक से समाज व्याकुल हो गया। धरती त्रस्त होकर देवताओं के पास गयी, ऋषियों के पास गयी। देवताओं ने कहा– हम भी तो रात-दिन उसी की सेवा में हैं। सब मिलकर ब्रह्मा के पास गये। विधाता ने विचार किया कि इस संकट का उपाय तो मेरे पास भी नहीं है। तुम जिस प्रभु की सेविका हो, वह हमारा-तुम्हारा, सबका रक्षक है। उससे प्रार्थना करो। अब ईश्वर को कहाँ ढूँढ़े?– चर्चा का विषय बन गया।

पुर बैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥

(रामचरितमानस, 1/184/2)

किसी ने कहा– प्रभु बैकुण्ठ में रहते हैं; किसी ने प्रतिवाद किया कि तुम क्या जानो! वह तो क्षीरसागर में रहते हैं।

तेहिं समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥

(रामचरितमानस, 1/184/4)

भगवान शिव ने कहा– उस समाज में मैं भी था किन्तु कुछ कहने का अवसर ही नहीं मिल रहा था। ज्योंही अवसर मिला, उन्होंने एक सूत्र बताया–

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रामचरितमानस, 1/184/5)

भगवान न क्षीरसागर में हैं, न बैकुण्ठ में। वह तो समान रूप से सर्वत्र हैं। वह प्रेम से प्रकट होते हैं। उनकी प्राप्ति का उपाय केवल प्रेम है।

राम राम सब कोई कहे, ठग ठाकुर अरु चोर।
बिना प्रेम रीझत नहीं, तुलसी नन्द किसोर॥

प्रेम अत्यन्त आवश्यक है। बिना प्रेम के भगवान कभी प्रसन्न नहीं होते।

प्रेम पियाला जिन पिया, शीश दक्षिणा देय।
लोभी शीश न दे सके, नाम प्रेम का लेय॥

प्रेम का प्याला पीने के लिए दक्षिणा में शीश देना पड़ता है। प्रेमी को अपने विचार, बुद्धि, सुझाव– सबकुछ इष्ट के चरणों में अर्पित कर देना होता है। ऐसा करने से प्रभु अपनी बुद्धि, अपना विचार, अपनी विभूति आपको प्रदान कर देंगे इसलिए प्रेम शिर के बदले में मिलता है। प्रभु प्रेम से प्रकट होते हैं इसलिए कुटी की बुनियाद ठोस प्रेम की होनी चाहिए। यदि नींव कमजोर है तो निर्माण स्थायी नहीं होगा। विपत्ति का साधारण-सा झटका भी प्रेमविहीन साधक झेल नहीं पाता इसलिए भजन के पथ में '**नेह की नींव करो मजबूती**'– प्रेम की नींव सुदृढ़ हो और '**सार शबद की भीत उठी**'- सार शब्द– '**राम नाम जग सार, रसना हरि-हरि बोल।**' जगत् में सार मात्र प्रभु का नाम है।

अत्यन्त प्राचीनकाल में, आदिशास्त्र गीता में, वैदिक वाङ्मय में परमात्मा के लिए ओम् का उच्चारण होता था। कालान्तर में शास्त्र, शिक्षा, इतिहास और संस्कृति पर प्रतिबन्ध लग जाने से ओम् के जप के अधिकार-अनधिकार का प्रश्न उठने लगा तो भक्तिकालीन सन्तों ने राम शब्द के जप से काम चलाया। दोनों का अर्थ, परिणाम एक ही है। विविध भाषाओं में प्रभु के अनन्त नाम हैं किन्तु मूलतः उनका कोई नाम है ही नहीं। वह अनाम हैं, अरूप हैं तो भला उनका नाम कैसा! वस्तुतः उनके विविध नाम अनेकानेक दृष्टियों से उनके किसी न किसी विभूति के द्योतक हैं। ओम् अर्थात् वह परमात्मा हम सबके हृदय में निवास करता है, प्राप्तिकाल में स्वरूप में स्थिति दिलाता है। इसी प्रकार राम शब्द है– '**रमन्ते योगिनः यस्मिन् स राम**'– जिसमें योगी लोग रमण करते हैं, उसका नाम राम है। इसलिए यह किसी एक व्यक्ति या किसी एक पिण्ड का नाम नहीं है। अब योगी किसमें रमण करते हैं? यह एक प्रश्न है।

वस्तुतः '**नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं।**' *(रामचरितमानस, 1/24/3)*– हम नाम क्यों जपते हैं? हमें भवसागर में डूबने का भय है। नाम कोई

ऐसा उपाय है कि भवसागर ही सूख जाय। '**नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भव सागर तरहिं।**' *(रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, सोरठा 2)*– समुद्र के सुझाव पर भगवान ने जामवन्त को सेतु बनाने का निर्देश दिया। इस पर जामवन्त ने कहा– प्रभो! आपका नाम ही वह सेतु है जिस पर चढ़कर मनुष्य भवसागर पार हो जाता है। मनुष्य का हृदय जड़ चट्टान है। इस पर जब प्रभु का नाम अंकित हो जाता है तो यही भवसागर पर सेतु बन जाता है अर्थात् भवसागर पार होने का उपाय नाम है। यही सार शब्द है, अन्य कुछ भी सार नहीं है। इसी को निरन्तर (Continuous) जपें। इतना जपें कि '**साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ।।**' *(रामचरितमानस, 1/21/4)*– साधक लौ लगाकर अर्थात् अत्यन्त रुचिपूर्वक नाम का जप करते हैं।

सुमिरन की झड़ी लगा दें कि उसकी दीवार खड़ी हो जाय। बीच में विराम नहीं कि दीवार रुक जाय या गिर पड़े। सार शब्द है नाम और उसका सतत् जप भीत या दीवार उठाना है, इस प्रकार '**छाओ छाओ हो फकीर गगन में कुटी।**' आदिशास्त्र गीता में भी है– '**सततं कार्यंकर्म समाचर**' *(3/19)*- निरन्तर कार्यं कर्म करो। '**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।**' *(6/35)*- निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से मन वश में हो जाता है। 'छाओ-छाओ' की पुनरुक्ति का यही आशय है कि इसमें निरन्तर लगे रहें।

कुटी की नींव भर गयी, भीत उठ गयी; अब आवश्यकता पड़ती है बड़ेर की! दीवार के ऊपर की मोटी लकड़ी का नाम बड़ेर है। दीवार और बड़ेर का आधार लेकर कुरवा या कोरई ठोस पतला बाँस होता है। इस गगन कुटी की बड़ेर बुद्धि है। साधन में बुद्धि का भी सहयोग रहता है– '**साधन करिय बिचारहीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे।**' *(विनयपत्रिका, 115/3)*- लाख साधन करें यदि विवेक-विचार से युक्त नहीं हैं तो मन कदापि शुद्ध नहीं होगा। अतः स्मृति के साथ लगना चाहिए। पर स्मृति किन-किन चीजों की रखनी है? मात्र अपने पथ और लक्ष्य के अनुकूल सारी जानकारी होनी

चाहिए। बुद्धि बड़ेरी है, ऊपर की मोटी लकड़ी है। विचारों के शीर्ष पर बुद्धि होनी चाहिए। उससे सम्बन्धित लकड़ियाँ 'कोरवा' ज्ञान का है। यम-नियम-आसन-प्राणायाम-धारणा-ध्यान और समाधि तथा अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह-शील-शौच-सन्तोष इत्यादि योगपथ के जितने भी अंग-उपांग हैं, सबकी भली प्रकार जानकारी कुरवा है। ये सब बुद्धि से जुड़े रहें, नामजप से जुड़े रहें। इस प्रकार विचारों से युक्त होकर लगें, कुटी छायें। यदि आप इस पथ की जानकारी से अनभिज्ञ हैं या जानकारी धूमिल है, कहीं संशय है तो '**संशयात्मा विनश्यति**' *(गीता, 4/40)*- उसका विनाश हो जाता है। अब बड़ेर और कुरवा के ऊपर छाजन या छानी होनी चाहिए तो–

भाव भगति की छानी बनी।

भाव में असीम बल है। लाख भजन करें, यदि श्रद्धा नहीं है तो कोई लाभ नहीं होता। '**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्**' *(गीता, 4/39)*– श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है। संयतेन्द्रिय ही ज्ञान प्राप्त करता है। भाव में वह क्षमता है कि भगवान वश में हो जाते हैं; किन्तु यदि भाव नहीं है तो 'श्रद्धाविहीन दिया हुआ दान, जपा हुआ जप, तपा हुआ तप सब व्यर्थ चला जाता है।' *(गीता, 17/28)*। भाव के बिना भक्ति व्यर्थ चली जाती है इसलिए श्रद्धाभाव का होना नितान्त आवश्यक है। भक्ति की शुरुआत तो रोने-धोने से ही होती है। विरह, वैराग्य और तड़पन अन्त तक बनी रहे। अन्ततः भक्ति की अधिकतम सीमा है– '**भग इति स भक्ति**'- भग कहते हैं त्रिगुणमयी प्रकृति को, माया को! इसका अन्त हो जाय और परमात्मा ही शेष बचे।

भुसुण्डि जी को महर्षि लोमश ने भक्ति का आशीर्वाद दिया, भगवान शंकर ने भी अविरल रामभक्ति का वरदान दिया किन्तु जब परमात्मा का दर्शन हुआ तो उन्होंने कहा–

काकभुसुण्डि मागु बर, अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि, मोच्छ सकल सुख खानि॥

(रामचरितमानस, 7/83-ख)

आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं॥

(रामचरितमानस, 7/83/2)

योग, विराग, ज्ञान, विज्ञान, सम्पूर्ण सुख की खानि मोक्ष माँग लो, जो भी चाहिए। काकभुसुण्डि उदास हो गये। वह मन ही मन विचार करने लगे–

प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥

भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥

(रामचरितमानस, 7/83/4, 5)

भगवान सबकुछ तो दे रहे हैं किन्तु भक्ति देने का नाम नहीं ले रहे हैं। भक्ति के बिना सारे गुण, सारे सुख ऐसे हैं जैसे नमक के बिना अनेकों प्रकार के व्यंजन जिनमें जैसे कोई स्वाद ही न हो। काकभुशुण्डि ने कहा–

जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू॥

मन भावत बर मागउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अंतरजामी॥

(रामचरितमानस, 7/83/7-8)

प्रभो! यदि आप प्रसन्न होकर वर देना ही चाहते हैं तो मैं मनचाहा वर माँगता हूँ। आप अन्तर्यामी हैं, जानते हैं कि मैं क्या चाहता हूँ!

अबिरल भगति बिसुद्ध तव, श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत योगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥

(रामचरितमानस, 84 क)

अविरल भक्ति जिसे योगेन्द्र मुनिवर्य चाहते हैं, जो भक्ति कभी घटे-बढ़े नहीं– ऐसी भक्ति मिल जाय! भगवान बहुत खुश हुए, प्रदान किया।

विचारणीय है कि भक्ति के द्वारा भक्त भगवान को ढूँढ़ते हैं। यहाँ भगवान सामने खड़े हैं, मिल गये; फिर भी भक्ति के लिए रोना अभी शेष ही है। भुशुण्डि को भगवान मिल तो गये किन्तु वह अलग और भगवान

अलग खड़े थे। दोनों विभक्त थे। विभक्त का अर्थ है अलगाव; भक्त का अर्थ है तद्रूप मिल जाना। भक्ति की पूर्णता तब है जब प्रकृति का अन्त हो जाय, परमात्मा का स्वरूप ही शेष बचे। भगवान ने भुशुण्डि को तुरन्त अपना स्वरूप दे दिया किन्तु साधनावस्था में सन्त कबीर कहते हैं कि बुद्धि की बड़ेर, ज्ञान का कोरवा और भावपूर्ण भक्ति की छानी (छाजन) बन गयी। अब इसे भेदकर न शोक-सन्ताप की लहरियाँ आयेंगी और न प्रकृति का ताप ही आ सकेगा। ऐसे महापुरुष की रहनी पर प्रकाश डालते हैं–

'दया दुआर क्षमा का बेड़ा'

सन्त दयालु होते हैं। उनकी दया का द्वार खुला रहता है। सृष्टि में मनुष्य दो प्रकार के होते हैं– एक तो दया चाहने वाले श्रद्धालु और दूसरे उच्छृंखल स्वभाव के लोग जो अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति हेतु याचना करते हैं। एक दैवी प्रकृति के तो दूसरे आसुरी स्वभाव के लोग हैं। इनमें जो दैवी स्वभाव के हैं, दया के पात्र हैं। उनको दया मिलती रहे–

राम झरोखे बैठकर, सबका मुजरा लेहिं।
जैसी जाकर चाकरी, वैसी वाको देहिं॥

किन्तु जब उद्दण्ड टकराये तो क्षमा का बेड़ा लगा दें, उसे क्षमा कर दें। यदि उसकी उद्दण्डता को सन्त ले ले तो अपने श्रेय से च्युत हो जायेगा। ऐसे लोगों के लिये क्षमा का बेड़ा अवरोध लगा लें जिससे उनका उग्र रूप सन्त तक न पहुँच सके।

इस स्थिति के एक महापुरुष ईसा हुए हैं। वह दिन-रात दुखियों का दुःख-दर्द सुना करते थे, सच्चा उपदेश देते थे। कोढ़ियों को काया, रोगी को नीरोग, अन्धों को आँखें देते ही रहे। कुछलोगों को उनकी यह सेवा भी अच्छी न लगी। पोप-पादरी, धर्माधिकारी, मठाधीशों को अपना प्रभाव कम होता प्रतीत हुआ। रूढ़िवादी धर्मावलम्बियों ने राज्याधिकारियों से शिकायत की– ईसा अनर्थ कर रहे हैं। हमारे धर्मग्रन्थ में है कि परमात्मा ने छः दिनों में पृथ्वी और सृष्टि की रचना की, सातवें दिन विश्राम किया। इस ईशू ने विश्राम के

दिन उस अन्धे को आँख दी, काम किया। इसने धर्मशास्त्र के विरुद्ध काम किया, घोर अपराध किया। अधिक आन्दोलन हुए। ईसा पकड़े गये। उन्हें आरोप सुनाया गया। वह बोले– कुछ काम ऐसे होते हैं जिनमें अवकाश नहीं होता। कल तक वह अन्धा भिखारी न जाने कहाँ होता? कदाचित् भेंट होती भी या नहीं! अन्धा का अन्धा ही रह जाता बेचारा! कल तक मेरे ही जीवन का कौन ठिकाना? एक गरीब का उपकार करने से मैं वंचित रह जाता। मान लें आपके देश पर किसी ने आक्रमण कर दिया, ऐसी परिस्थिति में क्या रविवार को अवकाश देंगे? धर्माधिकारियों के दबाव में ईसा को शूली की सजा सुनाई गयी। ईसा ने प्रभु से प्रार्थना किया, प्रभु! ये अज्ञानी हैं, अबोध हैं, इन्हें क्षमा किया जाय। स्वयं ईसा ने क्षमा किया ही! जो सन्त अन्धों को दृष्टि दे सकता है, कोढ़ियों को नीरोग कर सकता है; क्या अपने विरोधियों का अन्त नहीं कर सकता? किन्तु ईसा ने क्षमा का बेड़ा लगा दिया। इनकी उद्दण्डता वहाँ न टकराने पाये, इसके लिए क्षमा की बाड़ लगा दी।

दया और क्षमा के अतिरिक्त इस कुटी में '**शील सन्तोष की टाटी बनी। छाओ छाओ हो फकीर गगन में कुटी।।**'– शील साधुता के गुणधर्मों को कहते हैं। साधुता के सारे साधन जब सध जायँ, सधकर सामने से गुजरने लगें उसे शील कहते हैं। उस अपनी रहनी से, भजन की उत्तरोत्तर वृद्धि से संतुष्ट होकर चलना चाहिए। इसकी टाटी बना लें, कवच बना लें जिससे अन्य विजातीय संकल्पों का स्फुरण भी न हो। यदि कोई भजन तो करता है किन्तु रहनी और लक्ष्य से संतुष्ट नहीं है तो असंतुष्ट मन कहीं-न-कहीं जरूर भागेगा, वासनाओं में खिंच जायेगा। इसीलिए शील और सन्तोष की टाटी भी कुटी में आवश्यक है।

गौतम बुद्ध सत्य की खोज में विचरण कर रहे थे। मगध नरेश महाराज विम्बिसार उनसे मिलने आये। उन्होंने सिद्धार्थ से कहा, ''आप राज्य करने योग्य हैं। मेरा आधा राज्य स्वीकार करने की कृपा करें। यदि दान लेने में संकोच हो रहा हो तो मेरे साथ तलवार लेकर अश्व पर आरूढ़ हों, आपका राज्य स्थापित कराने में मुझे प्रसन्नता होगी।'' बुद्ध ने कहा, ''राजन्! मैंने

किसी भय या राग-द्वेष के कारण गृहत्याग नहीं किया है। मैंने खूब सोच-समझकर इस जिज्ञासा से गृहत्याग किया है कि सत्य क्या है? दुःखों का स्रोत क्या है? मोक्ष का उपाय क्या है? या तो मैं इन्हें जानूँगा या मृत्यु को प्राप्त होऊँगा! लोक में ऐसा कोई प्रलोभन नहीं है जो मुझे अपनी ओर आकर्षित कर सके।'' इस प्रकार महामानव बुद्ध शील में रमे थे, अपने लक्ष्य से संतुष्ट थे। राज्य का लोभ भी उन्हें चलायमान नहीं कर सका और एक दिन गौतम बुद्ध पार हो गये। हर साधक के लिए आवश्यक है कि शील अर्थात् साधुता की कसौटी पर अपने को कसता जाय और उससे सन्तोष प्राप्त करता जाय, इसकी टाटी बना ले।

जब इतना करते बन गया तो भगवान पुकारने लगते हैं– '**कहै कबीर अगम गोहरावै, आवागमन की फिकर मिटी। छाओ छाओ हो फकीर गगन में कुटी।।**'। कबीर कहते हैं– '**अगम गोहरावै**'- अगम, अपार, एकरस, अखण्ड परमात्मा है। वह परम प्रभु है। जो कण-कण में व्याप्त है, अचिन्त्य-अगोचर है। वह बुलाता है। जहाँ उसने पुकार लिया तो आवागमन अर्थात् जन्म-मृत्यु की चिन्ता ही मिट गयी।

पूज्य महाराज जी कहा करते थे– ''हो! भगवान ने वहाँ ऐसा उपदेश दिया, वहाँ भगवान ने हमें पतित होने से बचा लिया और वहाँ भगवान ने मुझे यह विभूति दी।'' हमने कहा– ''महाराज जी! क्या भगवान भी बोलते हैं? बातें करते हैं?'' महाराज जी ने कहा– ''हाँ हो, भगवान ऐसे ही बतियावा करते हैं जैसे हम-तुम बैठकर बातें करें, घण्टों बतियाईं और क्रम न टूटे।'' हमारे लिए यह नयी बात थी इसलिए समझ में नहीं आया यह क्या कहते हैं! हम उदास हो गये। एक पन्द्रह मिनट बाद महाराज जी बोले– ''काहे घबरात है? तोहूँ से बतिअइहैं।'' वस्तुतः उनका कथन अक्षरशः सत्य निकला।

सम्पूर्ण अवनि मण्डल के एकछत्र सम्राट महाराज मनु के मन में एक बार अपार दुःख हुआ कि घर में रहते चौथापन आ गया, विषयों से वैराग्य

भी नहीं होता। गृहत्याग कर वे नैमिषारण्य पहुँचे, ऋषियों से मिले, साधन-क्रम समझा और भजन में लग गये। उन्होंने इतना तप किया कि '**अस्थि मात्र होइ रहे सरीरा।**'- शरीर कंकाल मात्र शेष बचा। '**बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा।।**' *(रामचरितमानस, 1/144/2)*। महाराज मनु सृष्टि के सम्राट थे तो देवाधिदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश– तीनों बार-बार उनके पास आये। '**मागहु बर बहु भाँति लोभाए**'- वे कुछ दे नहीं रहे थे; 'वर माँगो, वर माँगो'– ऐसा कहकर प्रलोभन दे रहे थे। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य– ये षड् विकार हैं। इनमें से एक विकार लोभ को ही बढ़ावा दे रहे थे किन्तु मनु विचलित नहीं हुए। यह भी नहीं कहा कि देव! हमारा सौभाग्य कि आप पधारे। वह शान्त भजन में लगे रहे।

परमात्मा ने देखा कि यह अनन्य भाव से मुझमें लगे हैं। शील और उसी में संतुष्ट हैं, मन-क्रम-वचन से मेरे भक्त हैं तो आकाशवाणी हुई– '**मृतक जिआवनि गिरा सुहाई।**'- यह संसार मरणधर्मा है। इस मानव को अमृत पद देनेवाली वाणी जब मनु के हृदय में गूँजी तो '**हृष्ट पुष्ट तन भये सुहाए। मानहुँ अबहिं भवन ते आए।।**'- उन्हें ऐसा लगा कि अभी-अभी हम महल से निकले ही थे कि भगवान मिल गये, बड़ी सरलता से मिल गये जबकि श्रम इतना किया था कि '**अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा।**'

प्रभु जब कृपा करके देख लेते हैं, पुकार लेते हैं तो साधन-श्रम विस्मृत हो जाता है। '**जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई।।**' *(रामचरितमानस, 1/111/2)*– उन्हें जान लेने के बाद जगत् खो जाता है; जैसे जग जाने पर स्वप्न का भ्रम स्वतः मिट जाता है। जब वह मिट ही गया तो दुःख का भान किसे हो। इसीलिए महाराज मनु को लगा मानो अभी महल से चले आये हों, हमने श्रम किया ही नहीं, प्रभु हमें अनायास ही मिल गये। इस गगन गिरा की कबीर भी पुष्टि करते हैं कि '**अगम गोहरावै**'- भगवान ने पुकारा; अब '**आवागमन की फिकर मिटी**'- जन्म-मृत्यु का बन्धन समाप्त हो गया।

पूज्य गुरुदेव इस पर बहुत जोर दिया करते थे। वह हम साधकों को बार-बार सचेत करते रहते थे– ''हो! पूरा संसार एक स्वर से तुम्हें साधु कहे, तुम्हें उस प्रशंसा से कुछ भी नहीं मिलेगा। एक दिन रोने को आँसू तक नहीं मिलेगा। केवल तुम्हारी आत्मा तुम्हें साधु कह दे, भगवान तुम्हें साधु कह दें, तुम सबकुछ पा जाओगे। दुनिया कहे चाहे कभी न कहे; आत्मा तुम्हें साधु मान ले तो तुम्हारे पास कोई कमी कभी नहीं रहेगी।''

'**न जायते म्रियते वा कदाचित्**'– जन्म और मृत्यु से परे केवल परमात्मा है। '**नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥**' *(गीता, 2/20)*- अजन्मा, शाश्वत, नित्य एक परमात्मा है। उस परमात्मा की प्राप्ति हो जाने पर आवागमन, जन्म-मरण का टकराव नहीं होता अर्थात् इस स्थिति के लिए भजन नितान्त आवश्यक है। भजन इस प्रकार करना चाहिए कि चित्त संकल्प-विकल्प से रहित शून्य में टिक जाय। श्वास में सुरत की डोरी लग जाय, जहाँ मानसिक वृत्तियाँ कूटस्थ हुईं– तत्काल कुटी बनकर तैयार हो जायेगी। आसन मार लो, पुनः मन को ध्यान में लगाओ। इस प्रकार आप अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेंगे। हर साधक को साधन-क्रम की जानकारी होनी चाहिए। गगन कुटीर की नींव स्नेह से भरी जाती है। सारशब्द नाम का जप है, इसी की दीवाल बनती है। बुद्धि और विचार से युक्त होकर '**ज्ञान का कोरवा**'- जानकारी के साथ, स्मृति के साथ लगने का विधान है। भक्ति भावपूर्ण होनी चाहिए। हमारा चित्त कभी संयम से अलग न हो। सत्पात्रों के लिए दया और आसुरी स्वभाववालों के प्रति क्षमा का भाव रहे। ऐसे महापुरुष को '**अगम गोहरावै**'- प्रभु पुकारते हैं और उनके रीझते ही आवागमन की चिन्ता ही समाप्त हो जाती है।

!! बोलिये श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 3:1)

तवन घर चेतिहे रे भाई!

अभी आपने सन्त कबीर का सुप्रसिद्ध भजन सुना कि '**छाओ छाओ हो फकीर गगन में कुटी।**'; उसकी अन्तिम पंक्ति थी– '**कहै कबीर अगम गोहरावै, आवागमन की फिकर मिटी।**'- अर्थात् अगम परमात्मा जब रीझ जाय, बुला ले तभी आवागमन की चिन्ता मिटती है। आवागमन की चिन्ता का मिट जाना अच्छी उपलब्धि है किन्तु अन्तिम उपलब्धि क्या इतनी ही है या उस मुक्त स्थान की कोई विशेषता भी है! चिन्ता तो मिट गयी किन्तु मिला क्या? वहाँ कोई सुविधा भी है? कहीं कोई धोखा तो नहीं है? आवागमन से मुक्त पुरुष के समक्ष व्यवस्था क्या होती है?– इस पर सन्त कबीर का एक भजन इस प्रकार है–

तवन घर चेतिहे रे भाई! तोहरा आवागमन मिटि जाई।।
तवन घर....तोहरा आवागमन.....।।

जाकी सेवा स्वर्ग उठि धावे, सेवा में सुख पाई।
उलटा सींचे जड़ा मूल को, साखा पत्र अघाई।।
तवन घर....तोहरा आवागमन.....।।

इंगला पिंगला काम न आवे, सुखमन रहे समाई।
मंतर तंतर वहि घर नाहीं, एक नाम लौ लाई।।
तवन घर....तोहरा आवागमन.....।।

जा घर लक्ष्मी झाड़ू देत हैं, शंभु करैं कोतवाली।
ता घर ब्रह्मा बने टहलुआ, विष्णु करैं रखवाली।।
तवन घर....तोहरा आवागमन.....।।

चल हो हंसा वहि घर चलहू, जहँ आवागमन न होई।
कहै कबीर सुनो भाई साधो! अचरज कहलो न जाई।।
तवन घर....तोहरा आवागमन.....।।

उस घर के लिये चेत करो जिसमें निवास के पश्चात् आपका आवागमन, जन्म-मृत्यु का बन्धन ही समाप्त हो जायेगा। घर के लिए चिन्ता तो सभी करते हैं। कभी-कभी बड़े शहरों में दंगों की चर्चा सुनाई पड़ती है तो लोग वहाँ से भागकर घर पहुँचते हैं, बाहर-भीतर के सभी दरवाजे बन्द कर लेते हैं, सोफे में बैठकर निश्चिन्त होने का प्रयास करते हैं, अकस्मात् मकान ही विस्फोट से उड़ जाता है। कभी रक्षक ही भक्षक हो जाते हैं। सृष्टि में ऐसा कोई निवास नहीं जो आवागमन से मुक्त हो। यहाँ तक कि देवलोक भी जन्म-मृत्यु की परिधि के अन्तर्गत ही है–

आब्रह्म स्तम्बपर्यन्तं सर्वं मायामयं जगत्।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं हरेर्नामैव केवलम्।।

आदिशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता का उद्घोष है–

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

सृष्टि निर्माता विधाता और उनसे उत्पन्न सारा जगत्, चौदहों भुवन जो अलौकिक शोभासम्पन्न हैं, सब मृग मरीचिका है, धोखा है; सभी दृश्य मायामय है, जादू-सा दिखता है, अन्त में होता कुछ भी नहीं। यह सृष्टि ऐसे ही एक दिखावा है, इसमें सत्य केवल एक हरि हैं, हरि का नाम है; अन्य कुछ भी नहीं।

विश्वविजय की महत्वाकांक्षा वाले महान् सम्राट सिकन्दर ने एक सन्त के बारे में काफी कुछ सुन रखा था। उसने मन ही मन उन सन्त का दर्शन करने का निश्चय कर रखा था। युद्ध अभियान का मार्ग उन सन्त की कुटिया के समीप ही था। मंत्री ने सिकन्दर से कहा– यह धूप में बैठे महात्मा वही प्रसिद्ध सन्त हैं। सिकन्दर ने उन्हें प्रणाम किया। उन महात्मा ने सिकन्दर का परिचय पूछा। मंत्री ने बताया– यह महान् सम्राट सिकन्दर हैं।

महात्मा ने कहा, ''ओह! यह एक महीने से छकड़े, अस्त्र-शस्त्र, युद्ध सामग्रियाँ लदकर जा रही हैं, सब तुम्हारी हैं?'' सिकन्दर ने कहा, ''जी, हाँ!'' महात्मा ने कहा, ''अभी पीछे और भी है क्या?'' सिकन्दर ने कहा, ''अभी सारा सैन्य बल पीछे ही है।'' महात्मा ने पूछा, ''किस देश पर आक्रमण कर रहे हो?'' सिकन्दर ने बताया– ''अभी तो टर्की, उसके पश्चात् ईरान, अफगानिस्तान, हिन्दुस्तान और इस क्रम में सम्पूर्ण विश्व!'' महात्मा ने पूछा, ''इसके पश्चात् किसे जीतोगे?'' सिकन्दर को कोई उत्तर न सूझ पड़ा। वह चुपचाप उन महात्मा की ओर देखता रहा।

उन महात्मा ने कहा, ''क्यों कर रहे हो इतना पाप? इस कुटी में तुम्हारे लिए भी स्थान है, दो रोटी का प्रबन्ध है। आओ, शान्तिपूर्वक बैठकर यहीं चिन्तन करें!'' सिकन्दर ने सविनय कहा, ''प्रभो! अब तो मैं अभियान पर निकल पड़ा हूँ। लौटकर मैं आपके ही पास आऊँगा।'' महात्मा ने कहा, ''इतना तुम्हारे पास समय कहाँ है? यदि न लौट पाये तो क्या होगा?''

सिकन्दर चल पड़ा, कई एक देश जीते किन्तु हिन्दुस्तान में प्रबल प्रतिरोध हुआ। विषयुक्त तीर लगने से वह ज्वराक्रान्त हो गया। विश्वविजय अभियान स्थगित कर वह यूनान की ओर लौट पड़ा। एक घुड़सवार से उसने उन महात्मा को प्रणाम-निवेदन कर कहलाया कि मैं सीधा आपके ही पास आ रहा था, मुझे महलों में नहीं जाना था; किन्तु प्रतीत होता है कि आपके दर्शनों का सौभाग्य नहीं पा सकूँगा। मार्ग में मिस्र देश में ही सिकन्दर का देहान्त हो गया। ऐसी गाथाएँ जनमानस में प्रचलित हैं–

कहाँ गये वह दारा सिकन्दर, कहाँ वह बारहदरी गयी।
चले गये सब अजर के मुख में, ना खुश्की ना तरी रही।।

बड़े-बड़े विजेताओं की यह दशा! '**आसपास योद्धा खड़े, सभी बजावें गाल। मंझ महल से ले चला, ऐसा काल कराल।।**'– आसपास योद्धाओं की कतारें लगी हुई थीं फिर भी बीच महल से, सुविधाओं के सुरक्षा कवच के भीतर से काल जीव को उठा ले जाता है। यह है आवागमन– आना

और जाना। आयु का कोई भरोसा नहीं है। इस आवागमन से बचने का एक स्थान, एक घर कबीर ने खोज निकाला जो अनादिकाल से ऋषियों का चिन्तन रहा है। '**तवन घर चेतिहे रे भाई**'- उस घर के लिए चेत करो, तुम्हारा जन्म और मृत्यु का बन्धन छूट जायेगा। तुम और तुम्हारा धाम सदैव रहेगा। प्रश्न है उस घर में यदि पहुँच ही गये तो उसकी व्यवस्था क्या है?

'**जाकी सेवा स्वर्ग उठि धावे**'- जो भी साधक उस आवागमन से मुक्त स्थल पर पहुँचता है उसकी सेवा में पूरा स्वर्ग दौड़ पड़ता है। देवराज इन्द्र, उसके गुरु वृहस्पति, वरुण, कुबेर समेत सम्पूर्ण देवलोक उसकी सेवा के लिए होड़ लगा देते हैं। क्यों? किसलिए? '**सेवा में सुख पाई**'- सेवा से ही उनको शाश्वत सुख की प्राप्ति है। ऐसे महापुरुष की सेवा ही उनकी मुक्ति का स्रोत है। उन्हीं की सेवा से शाश्वत शान्ति और परम सुखप्राप्ति की आशा है इसलिए वे '**सेवा में सुख पाई**'।

रामचरितमानस में प्रसंग आता है कि देवताओं ने राम की सेवा की किन्तु समय-समय पर वे असुरों की सेवा में संलग्न मिले–

कर जोरें सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता।।

(रामचरितमानस, 5/19/7)

रावण के दरबार में सम्पूर्ण देवता हाथ जोड़े खड़े थे। वे सतर्क रहते थे कि सेवा में कहीं देर न हो जाय। सभी विनीत भाव से खड़े थे। अग्निदेव पाकशाला की देखरेख कर रहे थे तो वायुदेव सफाईकर्मी नियुक्त थे। सेवा में देवगण अवश्य थे किन्तु वे सभीत थे, बड़ी दयनीय दशा थी। वे रात-दिन कराह रहे थे कि प्रभु कृपा करें। इस खल की दासता से हमें मुक्ति दिला दें किन्तु सन्त सत्पुरुषों की सेवा में स्वर्ग दौड़ पड़ता है और '**सेवा में सुख पाई**'- सेवा में उनको सुख मिलता है। यह स्थिति कब मिलती है?– इस पर कहते हैं–

उलटा सींचे जड़ा मूल को, साखा पत्र अघाई।
तवन घर चेतिहे रे भाई!

आवागमनरहित स्थिति तभी सम्भव है जब आप प्रकृति से उलटकर मूल को सीचें, जड़ को सींचे! हर व्यक्ति जड़ में पानी देता है। धान हो किंवा कोई भी वनस्पति, सभी मूल को ही सींचते हैं, सींचना भी चाहिए किन्तु हमारा-आपका, संसार का मूल क्या है? भगवान श्रीकृष्ण आदिशास्त्र को पुनर्प्रकाशित करते हुए गीता में कहते हैं–

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥15/1॥

अर्जुन! ऊपर परमात्मा ही जिसका मूल है, नीचे कीट-पतंगपर्यन्त प्रकृति ही जिसकी शाखा-प्रशाखा है, संसार ऐसा ही वृक्ष है। हम उन पत्तियों को सींचते हैं जहाँ हम खड़े हैं। हम जिस वंश में हैं उस परम्परा को सींचते हैं, प्रथाओं को सींचते हैं, इससे कल्याण कदापि नहीं होगा। भला पत्तियों को सींचने से कल्याण कैसे होगा? पत्ते तो वहीं झड़ जायेंगे। उसके साथ आपका भी अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। इसलिए परमतत्त्व परमात्मा ही मूल है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! त्रिगुणमयी प्रकृति ही गर्भ को धारण करने वाली माता है और मैं ही मूल बीजरूप से पिता हूँ। इसी मूल को सींचने के लिए सन्त कबीर कहते हैं– उस मूल परमात्मा की साधना करें, उसमें चित्त लगायें। चित्त लगाने का परिणाम है- '**शाखा पत्र अघाई**'- शाखा-प्रशाखा अर्थात् अनन्त योनियों के संस्कार- सब शान्त हो जायेंगे। यह सब प्रकृति उस तत्त्व में विलीन हो जायेगी। परमात्मा ही शेष बचेगा। 'अघाई' अर्थात् फिर कभी आप अतृप्त और असंतुष्ट नहीं होंगे। उस घर में भजन का स्तर कैसा रहेगा?– इस पंक्ति में प्रकाश डालते हैं–

इंगला पिंगला काम न आवे, सुखमन रहे समाई।

भजन की मुख्य पूँजी इंगला-पिंगला अर्थात् श्वास-प्रश्वास है। कुछ महापुरुषों ने नियम बना रखा था कि जो श्वास का भजन नहीं जानता, ऐसे साधु को वह अपनी कुटिया में दो रोटी नहीं देते थे; क्योंकि यह स्वयं तो गुमराह है, घूमकर दूसरों को पथभ्रष्ट ही तो करेगा। आरम्भ में नाम पकड़ में

नहीं आता तो जिह्वा से जप किया जाता है, क्रमशः उन्नत होने पर माला से जप किया जाता है। इससे उन्नत कण्ठ से जप है और पकड़ काम करने लगी तो श्वास से जपते हैं। इंगला दाहिने स्वर को और पिंगला बायें स्वर को कहते हैं।

इंगला पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया॥

चित्तरूपी चादर को बीनने के लिए कबीर ने इंगला और पिंगला– श्वास-प्रश्वास को ताना-बाना बना लिया। सन्त कबीर ने श्वास के भजन पर बहुत बल दिया–

श्वास श्वास पर राम कहु, वृथा श्वास जनि खोय।
ना जाने इस श्वास का, आवन होय न होय॥

चित्त को सब ओर से समेटकर श्वास पर ध्यान केन्द्रित करें कि श्वास अन्दर गयी तो क्या कहती है, बाहर निकली तो क्या कहती है! उसे सुनें! महापुरुषों की अनुभूति है कि श्वास नाम के अतिरिक्त कुछ कहती ही नहीं अर्थात् स्वाँस में नाम ढला मिले। जहाँ यह सुनने की क्षमता आ गयी तो '**रिनक धिनक धुन अपने से उठे**'। पूज्य महाराज जी कहते थे– श्वास में उठने वाले नाम की ध्वनि स्वतः जागृत हो जायेगी, स्पष्ट होती जायेगी और साधक का मन लव लगाकर उसे श्रवण करने लगेगा। यही इंगला-पिंगला अर्थात् श्वास-प्रश्वास का चिन्तन है।

भजन के लिए इंगला-पिंगला से जप आवश्यक है किन्तु उस घर में जहाँ पूर्ण निवृत्ति है, आवागमन से मुक्ति का स्तर है, वहाँ इतने से काम नहीं चलता। '**सुखमन रहे समाई**'- मन सुखपूर्वक श्वास में सहज प्रवाहित हो जाय, यह सुषुम्ना का भजन है। अन्य कहीं मन लगे ही न, सुखपूर्वक जप की धारा चलती रहे, अन्य संकल्प स्फुटित ही न हों।

अनेक साधक क्रमोन्नत साधना न कर सुविधाजनक उपाय चाहते हैं। वे मंत्रों का अभिचार करते हैं, तन्त्र साधना करते हैं। कबीर कहते हैं– ये मायिक क्षेत्र की वस्तुएँ हैं– '**मंतर तंतर वा घर नाहीं, एक नाम लौ**

लाई।'- उस घर में मंत्र-तंत्र, जादू-टोना का उपयोग नहीं है। केवल '**एक नाम लौ लाई**'- एकमात्र नाम में ही लव को लगायें।

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।
सुरत डोर लागी रहे, तार टूट ना जाय।।

साधक को चाहिए कि जब तक जगे, सुमिरन करता रहे। जब वह सोने लगे तो पहले भली प्रकार श्वास में लौ लगाये, तब विश्राम करे। जब वह सोकर उठे तो सुरत वहीं लगी मिले, पहला संकल्प इष्ट का रूप आये। यह तार टूटने न पाये। सुमिरन कोई प्रदर्शन नहीं है। यही कारण है कि इस अवस्थावाले महापुरुषों को लोगों ने प्रायः पागल-सनकी समझा और सम्बोधित किया। केवल एक नाम, वह भी जपना न पड़े बल्कि नाम में लौ लग जाये।

साधक नाम जपहिं लय लायें। होहिं सिद्ध अनिमादिक पायें।।

(रामचरितमानस, 1/21/4)

वे लौ लगाकर नाम जप करते हैं और सभी सिद्धियों समेत परमसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। इतना ही नहीं, सन्त कबीर बताते हैं–

जा घर लक्ष्मी झाड़ू देत हैं, शंभु करै कोतवाली।

उस घर की यह महिमा है कि जो भी उसमें प्रवेश पाता है, उस परमात्मा के ही तद्रूप हो जाता है इसलिए लक्ष्मी झाड़ू देती हैं। अब लक्ष्मी को झाड़ू लगाने की क्या आवश्यकता है? किसी के पास लक्ष्मी आ जाय तो टूटी-फूटी झोपड़ी के स्थान पर महल की व्यवस्था हो जायेगी। उसकी कुछ अधिक कृपा हो गयी तो सवारी साधन, बाग-बगीचा सब कुछ हो जायेगा, माली लग जायेंगे, टी.वी. ब्लैक एण्ड ह्वाइट है तो रंगीन हो जायेगा। सब कुछ स्वतः चमकने लगेगा, झाड़ू लगाने की आवश्यकता ही समाप्त! किन्तु उस घर में प्रवेश के पश्चात् लक्ष्मी सब ओर से सिमटकर सेवा में लग जाती हैं।

दत्तात्रेय एक अच्छे महापुरुष थे। चिन्तन में सदैव लीन रहने के कारण भोजन, वस्त्र, शरीर तक का उन्हें भान ही नहीं रहता था। लोग पागल

मानकर उनसे दूर ही रहते थे। एक समय ऐसा आया कि उनके चारों ओर भीड़ लगने लगी। उन्होंने भगवान से पूछा– प्रभो! हमें तो कोई पूछता भी न था, आजकल यह भीड़ क्यों लग रही है? भगवान ने बताया– लक्ष्मी जी तुम्हारी सेवा करना चाहती हैं। दत्तात्रेय ने कहा– लक्ष्मी जी को मैंने तो कभी पुकारा ही नहीं! वह हमारी सेवा क्यों करना चाहती हैं? भगवान ने कहा– तुम्हारे हृदय में अब मैं आ गया हूँ इसलिए लक्ष्मी जी सेवा करना चाहती हैं। दत्तात्रेय ने कहा– भगवन्! आप हृदय में बने रहें, केवल लक्ष्मी जी को भगा दें; भीड़-भाड़ से भजन में व्यवधान होता है। भगवान ने कहा– मेरा चरण छोड़कर लक्ष्मी को अन्यत्र कहीं ठौर ही नहीं है इसलिए वह तो रहेंगी।

दत्तात्रेय उलझन में पड़ गये। उन्होंने वह स्थान छोड़ दिया किन्तु जहाँ भी गये, वैसी ही व्यवस्था मिलती गयी। इस प्रकार लक्ष्मी को पीछा करते देख उन महात्मा ने संकल्प के विपरीत जाने का प्रयास किया। वे पूरब जाने की सोचते, लक्ष्मी वहाँ व्यवस्था कर रही होतीं कि दत्तात्रेय पश्चिम निकल जाते किन्तु एक-दो दिन पश्चात् वहाँ भी वही भीड़-भाड़!

भगवान ने एक दिन कहा– ''भागो मत, कहीं बैठ जाओ!'' उन विचरणशील महात्मा को एक उत्तुंग पर्वत शिखर दिखायी पड़ा। उन्होंने पर्वत पर चढ़ना आरम्भ किया, चढ़ भी गये। उन्हें एक झरना दिखायी पड़ा, वहीं पर बैठ गये। उन्होंने विचार किया– देखें, अब लक्ष्मी कैसे सेवा कर लेती हैं! बब्बर शेरों से भरे इस पहाड़ की चोटी पर आदमी यदा-कदा ही पहुँच पायेगा।

पर्वत की तलहटी में बसे लोगों को स्वप्न दिखायी देने लगा कि शिखर पर कोई महापुरुष बैठे हैं। दूसरे ने कहा– उनके सामने त्रिशूल गड़ा है। किसी ने उन्हें साक्षात् शिव-स्वरूप में देखा। जब सबके स्वप्न एक-जैसे होने लगे तो कुतूहलवश श्रद्धालुजन पर्वत शिखर पर चढ़ गये। उन्होंने देखा, एक महापुरुष ऊपर बैठे हैं। वे सेवा में लग गये। ग्यारह हजार सीढ़ियाँ बनाकर पूरा समाज ऊपर दर्शन करने लगा। महोरगढ़ के राजा ने ताम्रपत्र पर

लिखकर अपना राज्य उनकी धूनी पर चढ़ा दिया। दत्त महाराज ने कहा– हम स्टेट लेकर क्या करेंगे? राजा ने कहा– भगवन्! अब तो हमने संकल्प कर दिया, वापस नहीं ले सकता। दत्त महाराज ने कहा– मैं कुछ माँगूँ, दोगे! उस राजा ने कहा– यह शीश आपके चरणों में अर्पित कर सकता हूँ। उन महापुरुष ने कहा– शीश दे दोगे तो सेवा कौन करेगा! आज से तुम मेरे राज्य का दीवान बनकर राजकाज का संचालन करो। राजा दीवान की तरह राज्य का कार्य देखते रहे। उसके सन्तोष के लिए दत्त भगवान दो-एक बार दस-पाँच मिनट के लिए उसकी गद्दी पर बैठ, ठोक-ठाँक कर आशीर्वाद देकर चले आये।

इसी प्रकार अनुसुइया के घनघोर जंगल में वर्षा के चार-चार महीने मनुष्यों का आवागमन दुर्लभ था। पूज्य गुरुदेव उस शान्त एकान्त में निर्द्वन्द्व बैठे रहते। क्रमशः कुछेक भाविक आने-जाने लगे किन्तु एक समय ऐसा आया कि महाराज जी को एक अनुभव दिखायी पड़ा। महाराज जी की कोठरी के दरवाजे पर एक महिला ने महाराज जी को रोका– ''अभी आप इस कोठरी में न जायँ!'' महाराज जी थोड़ा रुक गये, विचार करने लगे– हमारी कोठरी और हम ही भीतर न जायँ! उन्होंने प्रश्न की मुद्रा में महिला की ओर देखा तो वह बोली– ''भीतर लक्ष्मी जी चरण-सेवा कर रही हैं।'' महाराज जी ने विचार किया– ''कौन है भाई हमारी कोठरी में जिसकी सेवा लक्ष्मी जी कर रही हैं!'' कोठरी के भीतर प्रकाश था। दरवाजे की सन्धि से महाराज जी ने भीतर की ओर झाँका तो पाया– मैं ही आसन पर लेटा हूँ और लक्ष्मी जी मेरा ही पैर दबा रही हैं और यह देवी मुझे ही भीतर जाने से रोक रही है।

हमने पूज्य गुरुदेव से जानना चाहा कि यह कैसा अनुभव था? महाराज जी ने बताया, ''इसका अर्थ यह था कि मेरे स्वरूप की सेवा लक्ष्मी जी कर रही हैं और मेरे स्थूल शरीर को उसका बोध कराया जा रहा है।'' उस दिन से आश्रम की व्यवस्था ही बदल गयी। अयाचित आकाशवृत्ति से अनुकूल व्यवस्थाएँ बरसने लगीं। चित्रकूट में तो यह चर्चा का विषय ही बन गया कि परमहंस जी का खर्च कौन वहन करता है? कुछ ने अटकल लगाया,

कदाचित् सोना बनाते हैं! किसी ने उड़ाया– नोट छापते होंगे। शिकायतों पर कुछ अधिकारी भी जाँच में आये। महाराज जी कहते थे– ''हो! सब मेरे भीतर ही है, बाहर कहीं कुछ नहीं है बेटा! सारी मशीन मोरे भीतर है।'' यही रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास की भी उक्ति है–

सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अन्तकाल रघुपति पुर जाहीं।।

(रामचरितमानस, 7/14/4)

देवताओं को भी जो अति दुर्लभ है, वह सुख भी वहाँ सुलभ है। किसे? जिसे भगवान पुकार लें, आवागमन से मुक्ति का जिसे प्रमाणपत्र दे दें। इस प्रकार लक्ष्मी झाड़ू देती हैं, सहज सेवा में लग जाती हैं और '**शम्भु करे कोतवाली**'- शम्भु अर्थात् स्वयंभू स्वस्वरूप- जिसमें वह महापुरुष स्थित है वह स्वरूप स्वतः कोतवाली करता है। कोतवाल का कार्य है नियन्त्रण रखना, व्यवस्था कायम रखना। महापुरुष के पास हर तरह के लोग आते हैं। कोई दुःख लेकर आता है तो कोई उच्छृंखल भी चला आता है। शेर और बकरी सभी आते हैं। वह दरबार ही ऐसा है, किसी के लिए प्रतिबन्ध नहीं रहता। ऐसी परिस्थिति में महापुरुष का सहज स्वरूप स्वतः उनका निर्णय लेता है। जिसकी योग्यता जैसी है, उसी के अनुरूप फल प्रदान करता है, सबकी प्रार्थनाएँ स्वीकार करता है। वह जानता है कि प्रार्थना हृदय से है या मात्र प्रदर्शन है। उसका भाव कैसा है? जैसी उसकी सेवा है, वैसा ही पुरस्कार उसे प्रदान करता है। पूज्य महाराज जी कहते थे– ''हो! मोरे रूप से लोग का-का पा जात हैं, मैंहूँ नहीं जानत!'' यह है शम्भु की कोतवाली! इसीलिए ऋषि आश्रम में मन से भी पाप नहीं करना चाहिए, दण्ड मिल जाता है।

'जा घर ब्रह्मा भये टहलुआ'

उस घर में ब्रह्मा ही सेवा में नियुक्त हैं। '**अहंकार सिव बुद्धि अज**' *(रामचरितमानस, 6/15 क)*- बुद्धि ही ब्रह्मा है। बुद्धि तो सबके पास है, यह व्यष्टिगत बुद्धि ब्रह्मा नहीं है। समष्टिगत बुद्धि अर्थात् ब्रह्मपद की चार अवस्थाएँ हैं– प्रथम 'ब्रह्मविद्' अर्थात् ब्रह्म की विद्या से युक्त, द्वितीय

'ब्रह्मविद्वर' अर्थात् उस ब्रह्मविद्या में श्रेष्ठता प्राप्त कर ले, तृतीय 'ब्रह्म विदुर्यान' अर्थात् ब्रह्मविद्या की वह अवस्था जिस पर उस महापुरुष को अधिकार हो और जो दूसरों को वह ब्रह्मविद्या प्रदान भी कर सकता हो और चौथी श्रेणी है 'ब्रह्म विद्वरिष्ट'- ब्रह्मविद्या का वह स्तर जिसमें इष्ट प्रवाहित है, परमात्मा स्वयं प्रसारित है, ऐसी बुद्धि ही ब्रह्मा है। परमात्मा उस बुद्धि में जब जितना प्रसारण करता है, यह बुद्धि उसको ग्रहण करती और तदनुरूप कार्य करती है। उस घर में ब्रह्मा सेवा करता है। महापुरुष बुद्धि से नहीं सोचता कि क्या करें, क्या न करें! उनके पास स्वतः परमात्मा द्वारा सोचा हुआ आता है। महापुरुष को उसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रहती।

'विष्णु करे रखवाली'

विश्व के अणु-अणु, कण-कण में व्याप्त सत्ता जो सबका पालन करने वाली प्रशक्ति है, परमात्मा की वह प्रशक्ति यहाँ स्वयं रखवाली करती है। '**योगक्षेमं वहाम्यहम्**' *(गीता, 9/22)*- उसके योगक्षेम की व्यवस्था, उसकी सुरक्षा का भार स्वयं परमात्मा वहन करते हैं। इसलिए सन्त कबीर कहते हैं– '**तवन घर चेतिहे रे भाई।**'- उस घर के लिए चेत करो। सारे के सारे जीव अचेत हैं। इस पद द्वारा सन्त कबीर उन्हें सचेत करते हैं। आदिशास्त्र गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। *(गीता, 2/69)*

इस जगत्रूपी रात्रि में सभी प्राणी अचेत, निश्चेष्ट पड़े हुए हैं। लोग रात-दिन जो दौड़-धूप करते हैं, मात्र स्वप्न देखते हैं। इनमें से केवल संयमी पुरुष जग जाता है। संयम मात्र एक ईश्वर में होता है। ईश्वर के प्रति समर्पण के साथ संयम आरम्भ होता है। इसलिए चेत करो उस घर के लिए। यहाँ तो आप केवल स्वप्न देख रहे हैं, इसमें धोखा है। अन्त में सन्त कबीर कहते हैं–

'चलहु हंसा वहि घर चलहू, जहँ आवागमन न होई।'

संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार।

(रामचरितमानस, 1/6)

सन्त सत्पुरुष, श्रद्धालु साधक हंस कहे जाते हैं। वे विकाररूपी जल का त्याग कर ईश्वरीय गुणरूपी दूध को ग्रहण कर लेते हैं। मछली को जल से बाहर रखें, वह जी पायेगी क्या? शेर को घास खिलाकर जिलायें, जी सकेगा? ऐसे ही हंस हैं जो दूध के अतिरिक्त अन्य किसी का आश्रय नहीं लेते। उनमें नीर-क्षीर विवेक होता है। हंस की तरह संत भी हैं। ईश्वरीय गुणरूपी दूध ही उनका जीवन है। ऐसे सन्तों, विवेकी पुरुषों का आह्वान करते हुए सन्त कबीर कहते हैं कि उस घर के लिए प्रस्थान करो जहाँ आवागमन नहीं होता। वह स्थान है कैसा?

'**कहत कबीर सुनो भाई साधो!**'- लगभग पंचानबे प्रतिशत कबीर के पद सन्तों को उद्देश्य बनाकर कहे गये हैं। वह जानते थे कि जिस वैदिक तथ्य को गोपनीय बनाकर मैं कह रहा हूँ, इसे समझने की क्षमता सबमें नहीं है किन्तु संसार के इतने बड़े जनसमूह में जिनमें वह क्षमता पायी गयी वह थे सन्त! साधना में प्रवृत्त, एकाध सीढ़ी पार किये हुए '**कहत कबीर सुनो भाई साधो**'- पहले वे साधु समझें, फिर उनके द्वारा सब समझें।

'**अचरज कहलो न जाई**'- उस स्थल के बारे में सन्त कबीर कहते हैं– सन्तों समझो! वह एक आश्चर्य है, वाणी का विषय नहीं है। वह अगोचर है, अचिन्त्य है– चित्त का विषय नहीं है। उस धाम की रहनी कहने में नहीं आती।

जिन देखा तिन कहा नहिं, कहा सो देखा नाहिं।
रहिमन अगम बात के, कहन सुनन को नाहिं॥

जिन्होंने उस परमतत्त्व को देखा उन्होंने कहा ही नहीं और जो कहता है उस बेचारे ने अभी देखा नहीं। तुलसीदास कहते हैं– '**नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥**' *(रामचरितमानस, 1/20/7)*- नाम और रूप दोनों अनिर्वचनीय हैं। कबीर ने स्थान-स्थान पर इसका संकेत किया है– '**कह कबीर गूँगे की शक्कर, खाई सोई पै जानै।**'- गूँगा शक्कर खाता है, शिर हिलाता है; लेकिन व्यक्त नहीं कर सकता। ऐसा है आवागमन से मुक्त यह धाम!

सारांशतः परमात्मा पुकारे! जहाँ उन्होंने बुलाया, स्थिति मिल जाती है, स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है। इस ईश्वर-भाव की प्राप्ति का उपाय है नाम में लौ लगाना। और नाम कैसे जागृत होता है?– इस पर कहते हैं–

सेवक को सद्गुरु मिले, रहे कुछ न तवाही।
कह कबीर निज घर चलो, जहँ काल न जाई॥

सेवक को सद्गुरु की प्राप्ति के पश्चात् कोई अभाव नहीं रह जाता। जहाँ सद्गुरु से शिक्षा मिली तो '**निज घर चलो**'- उसी के सहारे साधना आरम्भ करें और लक्ष्य तक पहुँच लें– '**जहाँ काल न जाई**'- जहाँ काल का आना-जाना नहीं होता। वह अकाल है, काल से अतीत है, उसी का नाम है आवागमन से मुक्ति! लेकिन '**एक नाम लौ लाई**'- हर हालत में साधना का आरम्भ नाम से है और अन्त भी नाम की सुखमना अवस्था से है।

!! बोलिये श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 3:2)

का कहीं, केसे कहीं

का कहीं, केसे कहीं, को पतिआई।
फुलवा को छुवत भँवर मरि जाई।।

जोतिए न बोइये सींचिये न सोई।
बिनु डार बिनु पात फूल एक होई।।

गगन मंडल बीच फूल एक फूला।
तर भव डार ऊपर भव मूला।।

फूल भल फूलल मालिन भल गाँछल।
फुलवा बिनसि गयो भँवर निरासल।।

कहत कबीर सुनो सन्तों भाई।
पंडितजन फुलवा के रहलें लुभाई।।

सन्त कबीर की उलटवाँसी का यह प्रतीक पद पूज्य गुरुदेव को बहुत प्रिय था। इस पद के माध्यम से सन्त कबीर ने स्पष्ट किया कि साधना की जागृति कहने में नहीं आती, अनिर्वचनीय है। साधन लिखने में नहीं आता जबकि ध्यान ऐसे धरो, नाम ऐसे जपो, बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा– सबकुछ तो लिखा है फिर भी वास्तविकता यही है कि साधन लिखने में नहीं आता; क्योंकि साधना के दैनिक अभ्यासक्रम की सूची भगवान स्वयं निर्धारित कर साधक को देते हैं। उसके समक्ष अनुभवी निर्देश आते रहते हैं जिसका पालन उसे करना होता है। आज आपकी वृत्ति में कौन-सा, कब का

संस्कार उभरने वाला है– यह किसी पुस्तक में आप कैसे लिख देंगे? इसीलिए अनुरागी, समर्पित साधक अनपढ़ होते हुए भी भगवान को देखे पाये जाते हैं और अनुरागविहीन प्रकाण्ड विद्वान तर्क-कुतर्क में भटकते ही रह जाते हैं। पार्थिव शिक्षा का क्रियात्मक साधना में बहुत उपयोग नहीं है–

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होय॥

सन्त कबीर का मानना है कि पोथियाँ पढ़ते-पढ़ते संसार भर के लोग मरते जा रहे हैं, कोई पण्डित हो ही नहीं सकता जबकि उक्ति है कि पण्डितों के 'बात बात में बात' श्लोक पर श्लोक होते हैं किन्तु यह शिक्षा का उन्माद हो सकता है, पाण्डित्य नहीं। पण्डित वह है जिसे सत्य का ज्ञान हो, जिसे प्रतिक्षण अनुभूति का समर्थन मिले। '**पण्डिताः समदर्शिनः**' *(गीता, 5/18)*- सम है एकमात्र परमात्मा; जिसने उसका दर्शन कर लिया वह पण्डित है।

कबीर कहते हैं– '**ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होय।**'- राम, ओम्, शिव, पेट, पीठ, नाक, कान सब ढाई अक्षर ही तो हैं! कौन-सा ढाई आखर? '**ढाई आखर प्रेम का**'- प्रेम शब्द में भी तो ढाई अक्षर हैं। कबीर इस प्रेम को ही इंगित करते हैं। प्रेम आपसे क्या माँग करता है? प्रेमी को कैसा होना चाहिए? अपने अन्तःकरण में आप वैसी ही व्यवस्था बना लें, आप भी पण्डित हो जायेंगे। उस प्रेम के द्वारा ही प्रभु रीझेंगे, अन्य कोई मार्ग है ही नहीं!

अब रही बात साधना के आरम्भ की! इसके लिए सन्त कबीर कहते हैं– '**का कहीं, केसे कहीं, को पतिआई। फुलवा को छुवत भँवर मरि जाई॥**'- क्या कहें? वह कहने में नहीं आता, अनिर्वचनीय है; '**केसे कहीं**'- वह अधिकारी के लिए है, सबके लिए है भी नहीं; '**को पतिआई**'- केवल वाणी से कह देने मात्र से विश्वास होता नहीं, जब तक देखने को न मिले। वह कथ्य क्या है?

फुलवा को छुवत भँवर मरि जाई।

सन्त कबीर ने ईश्वर को पुष्प की संज्ञा दी है। उस ईश्वर का स्पर्श करते ही मनरूपी भ्रमर मिट जाता है। परमात्मा ही शेष बच रहता है और भजने वाले मन का अस्तित्व समाप्त हो जाता है–

मन मिटा माया मिटी, हंसा बेपरवाह।
जाको कछु न चाहिए, सोई शाहंशाह॥

मन निरुद्ध नहीं होता, मिटता है। मन समाप्त होता है। जहाँ मन मिटा, माया भी मिट जाती है। मन के द्वारा ही माया का प्रसार है। माया जिसके द्वारा प्रसारित होती है वह यन्त्र ही समाप्त हो गया तो भला माया आये तो किस रास्ते से आये? उस समय हंस यह जीवात्मा निर्द्वन्द्व हो जाती है, स्वरूपस्थ हो जाती है। इससे आगे कुछ पाने योग्य नहीं रह जाता तो जीवात्मा चाह करे भी तो किसकी? इसलिए '**जाका कछु न चाहिए**'- वही बादशाहों का भी बादशाह जो जाता है। इस प्रकार उस फूल परमात्मा का स्पर्श करने पर ही मन शान्त होता है, पहले नहीं। वह फूल है कैसा?–

जोतिए न बोइये सींचिये न सोई।
बिनु डार बिनु पात फूल एक होई॥

वनस्पति जगत् के लिये बीज की व्यवस्था की जाती है, उसे बोया जाता है, खेत तैयार किया जाता है, समय-समय पर सींचना पड़ता है किन्तु परमात्मा ऐसा पुष्प है कि उसे जोतकर, सींचकर उगाया नहीं जाता। उसमें डाल, पत्ते भी नहीं हैं और फूल भी दो-चार नहीं, '**फूल एक होई**'- केवल एक पुष्प खिलता है। स्पष्ट है कि सांसारिक पुष्प की ओर संत कबीर का संकेत नहीं है। यह फूल होता कहाँ है? किस वाटिका में होता है?–

गगन मंडल बीच फूल एक फूला।
तर भव डार ऊपर भव मूला॥

आकाश शून्य को कहते हैं। भजन-चिन्तन का उत्थान इतना सूक्ष्म हो जाय कि मन संकल्प-विकल्प से रहित होकर रिक्त स्थान में पहुँचकर स्थिर हो चले, शून्य में टिकने की क्षमता पा जाय, चिदाकाश में प्रवेश पा जाय,

तहाँ '**फूल एक फूला**'- परमात्मा हृदय में विकसित हो जाता है। सांसारिक संकल्प-विकल्प जहाँ शान्त हुआ, परमात्मा के चिन्तन की डोरी लगी तो '**फूल एक फूला**'- परमात्मा विकसित हुए, वह पकड़ में आ जाते हैं, जागृत हो जाते हैं। इसलिए यह फूल धरती पर नहीं, वासनाओं में कभी नहीं, गगन मण्डल में विकसित होता है और वह भी एक! '**व्यापक एक ब्रह्म अविनाशी।**' *(रामचरितमानस, 1/22/6)*- परमात्मा एक है। भगवान एक से दो कभी हुए ही नहीं। शिव भजें या राम? कौन बड़ा?– यह झगड़ा अविवेकियों का है, अज्ञानियों का है। जब तक साधना जागृत नहीं है तभी तक यह झगड़ा है। जागृति के पश्चात् कोई शंका या विवाद का स्थल नहीं रह जाता क्योंकि फूल खिल ही गया, वह तो एक ही है। जिसे ढूँढ़ना था वह साथ हो गया तो झगड़े समाप्त हो जाते हैं। इसलिए साधना के आरम्भ में इन्द्रिय-संयम करें, दैवी सम्पद् को बलवती बनायें, नाम जपें, रूप देखें, सत्संग सुनें, नियम का निर्वाह करते जायँ। जब आपकी साधना इतनी उन्नत हो गयी कि संकल्प-विकल्प से रहित शून्य में मन के टिकने की क्षमता आ गयी, तत्काल परमात्मा आपमें जागृत हो जायगा। फूल आकाश में पहुँचने पर ही है और अभ्यासी के लिए सम्भव भी है।

'**तर भव डार ऊपर भव मूला**'– वह ऐसे वृक्ष का फूल जिसके नीचे की डाल यह संसार और ऊपर का भव अर्थात् संसार देवलोक, ब्रह्मलोकपर्यन्त मूल है। भव अर्थात् संसार तो संसार ही है, ऊपर हो या नीचे– तीनों लोकों में वह कहीं भी चक्कर काटता है तो संसार में ही है।

अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा॥

(रामचरितमानस, 7/93/7)

अग अर्थात् जो गमन नहीं करना, जग अर्थात् जो गमन करता है, सारांशतः चर-अचर सृष्टि, नाग, नर और देवता– सब जगत् के ही अन्तर्गत हैं और काल की जलपान सामग्री मात्र हैं। पर्याप्त भोजन हो, उतना भी नहीं हैं; मात्र कलेवा हैं। देवता भी कलेवा से आगे नहीं हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने

कहा– अर्जुन! देवलोक में भी ऐसा कोई नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों से बचा हो। इस प्रकार ऊपर के संसार में देवलोक से ब्रह्मलोकपर्यन्त मूल और नीचे का संसार चर-अचर की जीव-शृंखला शाखा-प्रशाखा हैं। ऐसे वृक्ष में '**गगन मण्डल बीच फूल एक फूला।**'- जिसके भी मन में चिदाकाश में टिकने की क्षमता आ गयी, मन में स्थिरता आयी तो परमात्मा जागृत हो जाता है, भँवरा उसका संस्पर्श पाने लगता है, ब्रह्मपीयूष से आप्लावित होने लगता है।

परमात्मारूपी पुष्प की इतनी बड़ी विशेषता है कि उसी से सृष्टि का संचार है। वही 'तर भव' के रूप में कीट-पतंगपर्यन्त नीचे का संसार डाल-पात के रूप में है और वही 'ऊपर भव'- देवलोक, ब्रह्मलोकपर्यन्त ऊपर संसार के मूल तक है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– अर्जुन! सूर्य में तेज मैं हूँ, पृथ्वी में क्षमता मैं हूँ, चन्द्रमा में शीतलता मैं हूँ। बहुत कुछ सुनने-समझने से तेरा क्या प्रयोजन? सृष्टि में जो कुछ भी तेजयुक्त वस्तु है, मेरे तेज के अंशमात्र से तेजवान है अर्थात् सृष्टि मेरे अंशमात्र से है। त्रिगुणमयी प्रकृति गर्भ को धारण करने वाली माता और मैं परम चेतन बीजरूपी से पिता हूँ। मेरे तेज के अंशमात्र से सृष्टि का सृजन, विकास और परिवर्तन है! उसी परमात्मा को सन्त कबीर एक पुष्प की संज्ञा देते हैं जिसका डाल-पात 'तर भव' और मूल 'ऊपर का भव' है; परमात्मा ही उसका मूल है।

इस फूल की प्राप्ति का उपाय क्या है? इस पर सन्त कबीर कहते हैं–

फूल भल फूलल मालिन भल गाँछल।
फुलवा बिनसि गयो भँवर निरासल।।

भल अर्थात् बहुत अच्छी तरह, बहुत ही विलक्षण, अत्यन्त दर्शनीय फूल खिला। उसे इष्टोन्मुखी मानसिक प्रवृत्तिरूपी मालिन ने भली प्रकार अपने में सँजोया-सँवारा और गूँथ लिया। साधना अन्तिम सोपान पर पहुँची तो '**फुलवा बिनसि गयो**'- फूल ही विनष्ट हो गया! क्या परमात्मा नष्ट हो गया? नहीं, परमात्मा भी अब भिन्न नहीं रह गया। '**जानत तुम्हहि तुम्हइ**

होइ जाई।' *(रामचरितमानस, 2/126/3)*- साधक परमात्मा में समाहित हो गया। सेवक सदा के लिए खो जाता है, स्वामी ही शेष बचता है। जीव अलग और स्वामी अलग तो बेचारे जीव का विलय कहाँ हुआ! इसलिए यदि प्रभु करुणा कर अपनाते हैं तो अपने में जीव को समाहित कर लेते हैं। अब अलग कोई सत्ता नहीं जिसकी हम शोध करें, इसलिए '**भँवर निरासल**'- यह मनरूपी भँवरा, भजने वाला पथिक सदा-सदा के लिए आशारहित हो जाता है। वह आशा करे भी तो किसकी? आशा का स्थान ही नहीं रह गया। प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है इसीलिए '**फुलवा बिनसि गयो भँवर निरासल**'।

कहत कबीर सुनो सन्तों भाई।
पंडितजन फुलवा के रहलें लुभाई॥

सन्तों को अपना भाई सम्बोधित करते हुए सन्त कबीर कहते हैं (भाई समकक्ष होता है। कबीर जानते हैं कि आज का पथिक उपलब्धि के समय हमारे समकक्ष स्थिति प्राप्त कर लेगा। जो रूप या प्राप्ति हमारी है, वही उनकी भी होनी है इसलिए उन्हें बराबर का पद प्रदान करते हुए कहा) कि अनुज सन्तगण सुनें! '**पण्डितजन फूलवा के रहलें लोभाई**'- पण्डित जो ज्ञाता हैं, विवेकी हैं, इस पथ पर चलने वाले पथिक हैं, वह इस फूल में लुभाए रहते हैं, रात-दिन खोए रहते हैं। यदि लौकिक पुष्प होता तो वाटिका का माली लुब्ध होता, किसान का होता तो वह लुब्ध होता किन्तु इस फूल के लिए वे लालायित रहते हैं जिन्होंने हृदय में प्रभु की कुछ झलक पायी है। जिन्होंने हृदय में कुछ जानकारी संचित किया है, वही इस फूल में भली प्रकार लुभाये रहते हैं और पा जाते हैं।

सन्त कबीर के अनुसार इस पुष्प की उपलब्धि के लिए पण्डित होना आवश्यक है। पण्डित होने के लिए सत्संग आवश्यक है। सत्संग जहाँ नियमित होता है, आप पायेंगे कि दो-चार महीने में ही आपके पास कोई प्रश्न नहीं रह गया, मन शान्त होता जायेगा।

रामचरितमानस में है– '**सास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिअ।**' *(3/36/8)*- भली प्रकार मनन किया हुआ शास्त्र भी बार-बार देखना चाहिए। इसलिए सत्संग नितान्त आवश्यक है। दिनभर प्रकृति के थपेड़ों से जूझते-जूझते हमारे मस्तिष्क में बहुत कुछ विजातीय चिन्तन भर गया है। उस कालिमा की धुलाई के लिए सत्संग अपरिहार्य है, भले ही वह अल्प समय ही क्यों न मिलता हो। कदाचित् संत-संग और उनसे सत्संग, कुछ भी न मिले तो घर पर आडियो-विडियो कैसेट्स, सी.डी. इत्यादि लगाकर सत्संग सुन लिया करें। महापुरुषों की वाणियों का अध्ययन-मनन भी इस दिशा में उपयोगी है।

!! बोलिये श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 3:3)

साईं के संग सासुर आई

साईं के संग सासुर आई॥
संग न सूती स्वाद न मानी, गयो जोबन सपने की नाईं॥
साईं के संग.....॥

जना चार मिलि लगन शोधाई, जना पाँच मिलि मण्डप छाई।
सखी सहेलरि मंगल गावें, सुख दुख माथे हरदी चढ़ाई॥
साईं के संग.....॥

नाना रूप परी मन भँवरी, गाँठि जोरि भाई पतियाई।
अरघे दे लै चलीं सुहासिन, चौके राँड़ भई संग साईं॥
साईं के संग.....॥

भयो विवाह चली बिन दुलहा, बाट जात समधी समुझाई।
कह कबीर हम गवने जइबै, तरब कन्त लै तूर बजाई॥
साईं के संग.....॥

इस पद में सन्त कबीर ने परमात्मा को 'साईं' कहकर सम्बोधित किया है। अनुराग के मधुर भाव में सन्तों ने परमात्मा को अपना पति या प्रियतम मानकर उपासना आरम्भ किया है। सन्त कबीर ने '**हरि मोरा पीव मैं राम की बहुरिया**', '**हम घर आये राजा राम भरतार**', '**प्रियतम मोसे रूठल हो**', 'मैं उस पिया को रिझा रहा हूँ'– परमात्मा को पति कहा है। मीरा ने भी कहा, '**मेरी पत राखो गिरधारी**'- पत कहते हैं मर्यादा को, मान-सम्मान को। मीरा अनुरोध करती है कि प्रभो! मेरी मर्यादा की रक्षा करें! लोक व्यवहार में किसी ने अपशब्द कह दिया तो इज्जत चली गयी। किसी ने सम्मानित कर

दिया तो इज्जत दोगुनी-चौगुनी हो गयी। यह क्षुद्र इज्जत तो प्रायः आती-जाती रहती है, शरीर में जब तक श्वास है तब तक के लिए है। चार-छः पीढ़ी पहले के पूर्वजों में से कितनों का नाम लोग जानते हैं जबकि अपने व्यक्तित्व, कृतित्व और संस्कृति की मर्यादा रक्षा करने में वह भी उतने ही प्राणपण से लगे थे जितना हम-आप हैं। सन्त कबीर कहते हैं–

कबिरा नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाइ।
सोइ पुर पाटन सोइ गली, बहुरि न देखा आइ॥

पूर्वजों की उस इज्जत का आज कहीं लेखा-जोखा नहीं है। किन्तु '**ईश्वर अंस जीव अबिनासी।**'- परमात्मा का विशुद्ध अंश होते हुए भी हमारी-आपकी आत्मा बारम्बार गर्भवास की यातना सहन करती हुई, मल-मूत्र-पीव से सनी हुई योनियों का भ्रमण कर रही है; इससे अधिक मर्यादाहीनता क्या होगी? इस दयनीय दशा से उबार लेने में मात्र परमात्मा ही सक्षम हैं, इसलिए भजनानन्दियों ने परमात्मा को पतिरूप से भी सम्बोधित किया है।

रामचरितमानस का प्रसंग है। ऋष्यमूक पर्वत पर भगवान राम को देख सुग्रीव चिन्तित हो गये कि कदाचित् बालि ने उन्हें भेजा हो। वह शूरवीर प्रतीत हो रहे हैं। उन्होंने हनुमान को परीक्षा लेने के लिए भेजा कि यदि उनसे अनिष्ट की आशंका हो तो संकेत कर देना, मैं भाग जाऊँगा। हनुमान ने प्रश्न-परिप्रश्न करके पहचान लिया कि जो अवतार हुआ था वह यही राम हैं, चरणों में गिर पड़े। भगवान ने उन्हें सान्त्वना दिया। मानसकार लिखते हैं– '**देखि पवनसुत पति अनुकूला। हृदयँ हरष बीती सब सूला॥**' *(रामचरितमानस, 4/3/1)*- हनुमान जी ने पति को अनुकूल समझा। हनुमान स्त्री तो थे नहीं, वह वानर जातीय पुरुष थे, अखण्ड बाल ब्रह्मचारी थे; किन्तु परमात्मा को पति माना। महर्षि अगस्त्य के शिष्य सुतीक्ष्ण भी भगवान से निवेदन करते हैं– '**अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥**' *(रामचरितमानस,3/10/21)*। भगवान पति हैं, वे उस मर्यादा को रखने वाले हैं, आवागमन से मुक्ति दिलाकर आपका सहज, निर्मल स्वरूप दिलाने वाले हैं, इसलिए सन्तों ने उन्हें पति कहकर सम्बोधित

कहा, कहीं उन्हें प्रियतम कहा। प्रिय में भी उत्तम प्रियतम! एक बार सम्बन्ध जुड़ गया तो फिर कभी विछोह नहीं होगा। इसी प्रकार इस भजन में कबीर ने परमात्मा को साईं अर्थात् स्वामी कहकर सम्बोधित किया।

भजन की पहली पंक्ति है– '**साईं के संग सासुर आई।**'- पहले साईं से सम्बन्ध जुड़ा, इसके पश्चात् सासुर आने का अवसर मिला। पहले परमात्मा का दर्शन-स्पर्श तब 'स्व-सुरा'– स्वरूप में स्थिति का विधान है।

ईश्वर-पथ में एक रूढ़ि बहुत समय से प्रचलन में रही है। आज कोई गृहत्याग कर विरक्त होता है तो आरम्भ के चार-छः माह तक जब तक साधुवेष की भाषा, रहन-सहन का सैद्धान्तिक अध्ययन कर रहा होता है, अपने को साधक मानता है और सूत्रों का अभ्यास हो जाने पर अपने को सिद्ध, पूर्ण, परमात्मस्वरूप मान बैठता है। अब यदि कहीं भगवान है भी तो उससे हल्का ही होगा।

इस प्रकार की रूढ़ियाँ श्रीकृष्णकाल में भी थीं। भगवान श्रीकृष्ण ने इसका खण्डन करते हुए कहा– अर्जुन! न तो ऐसा है कि कर्म न आरम्भ करने से कोई नैष्कर्म्य की परम सिद्धि को प्राप्त होता है और न आरम्भ की हुई क्रिया को त्याग देने से कोई उस परम सिद्धि को प्राप्त होता है *(गीता, 3/4)*। तुझे ज्ञानमार्ग अच्छा लगे या निष्काम कर्म– दोनों के अनुसार कर्म तो करना ही है। कर्म का अर्थ है आराधना, कर्म का आशय है चिन्तन। क्षण मात्र भी कोई पुरुष बिना कर्म किये नहीं रहता क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश होकर वह गुणों में बरतता है *(गीता, 3/5)*। सत्, रज और तम– इन तीन गुणों का नाम प्रकृति है। जब तक यह त्रिगुणमयी प्रकृति है, इन तीनों गुणों में से कोई न कोई गुण आपके अन्तःकरण में जीवित हैं, गुण आपसे कार्य करा लेंगे। ऐसी परिस्थिति में क्षणमात्र भी मन शान्त नहीं हो सकता। वह गुण आपको चलायमान कर देगा। इतने पर भी जो लोग हठ से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का स्मरण करते रहते हैं; कहते हैं– मैं ज्ञानी हूँ, पूर्ण हूँ, आत्मा हूँ, अर्जुन! वह दम्भाचारी है, पाखण्डी है, धूर्त है *(गीता, 3/6)*। गीता के अध्याय छः में योगेश्वर ने बताया–

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ *(गीता, 6/1)*

फल के आश्रय से रहित होकर '**कार्यम् कर्म**'- करने योग्य प्रक्रिया (नियत कर्म) को जो करता है, वही संन्यासी है, वही योगी है; केवल अग्नि को त्यागने वाला या क्रिया को त्यागने वाला न तो संन्यासी है न योगी। आजकल भी अग्नि का उपयोग न करने वालों, क्रिया को त्यागने वालों का संगठन चल रहा है जो कहते हैं– मैं ज्ञानी हूँ, आत्मा हूँ, अग्नि नहीं छूता; और वे भजन की निर्धारित क्रिया भी नहीं करते। श्रीकृष्णकाल में भी थे। भगवान ने कहा– ऐसे लोग न संन्यासी हैं न योगी।

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ *(गीता, 6/2)*

जिसे संन्यास कहते हैं उसी को अर्जुन! तू योग जान; किन्तु संकल्पों का त्याग किये बिना कोई भी पुरुष संन्यासी अथवा योगी नहीं हो सकता। मान लें कोई कह दे कि हम संकल्प नहीं करते, हमने संकल्पों का त्याग कर दिया। मात्र कहने से संकल्प नहीं रुकते। यह तो विचारों का प्रवाह है। संकल्प कब निरुद्ध होते हैं?– इस पर भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ *(गीता, 6/3)*

योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले पुरुष को चाहिए कि कर्म करे। कर्म में भी नियत कर्म करना है। वह कर्म आरम्भ हुआ और होते-होते इतना उन्नत, इतना सूक्ष्म हो गया कि योगारूढ़ता आ गयी, योग की परिपक्वता आ गयी। इस योगारूढ़ता में '**शमः कारणमुच्यते**'- शम अर्थात् सर्वसंकल्पों का अभाव, मन का अचल स्थिति में ठहरना ही कारण है। अर्थात् जब तक हम आप क्रिया नहीं करेंगे, क्रिया में उत्थान होते-होते योगारूढ़ता नहीं आ जायेगी, तब तक संकल्प पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। इसके पूर्व कोई भी संन्यासी नहीं, कोई योगी नहीं होता।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ *(गीता, 6/4)*

जिस काल में पुरुष न अपने इन्द्रियों के भोगों पर आसक्त होता है और न कर्मों में आसक्त होता है, उस समय सर्वसंकल्पों का अभाव हो जाने पर वही संन्यासी है, उसी को योगी कहते हैं अर्थात् भजन नितान्त आवश्यक है किन्तु ईश्वरपथ में नकल का इतना बाहुल्य है कि दस दिन घर छोड़े हुआ, ग्यारहवें दिन पूर्ण योगी हो गये। यह विकृति कबीर काल में भी थी, आज भी लाखों की संख्या में ये हैं जो– पाँच तत्त्व, पच्चीस प्रकृति, आत्मा शुद्ध, शरीर नश्वर, मैं इन्द्रियों का विषय नहीं हूँ, इन्द्रियों से परे हूँ, मन से परे हूँ, मैं अखण्ड-शाश्वत-एकरस हूँ– इतना कहते बन गया तो योगी कहलाने लगते हैं। सन्त कबीर कहते हैं– ऐसा कहने से कोई पूर्ण नहीं होता। पहले साईं का संग, दर्शन और स्पर्श; जहाँ उस प्रभु की संगत हुई, सहज स्वरूप में स्थिति आती है, अन्यथा कदापि नहीं।

बिन देखे वा देश की, बात कहे सो कूर।
आपुन खारी खात है, बेचत फिरे कपूर॥

यदि कोई बिना देखे कहता है कि वह देश ऐसा है तो वह कूर है। स्वयं तो खारा नमक खा रहा है और उसे कपूर कहकर बेचता फिर रहा है।

बिन देखे बिन दरस परस बिन, नाम लिये का होई।
धन के कहें धनिक जौ होवे, निर्धन रहे न कोई॥

परमात्मा जब तक देखने को न मिले, दर्शन और स्पर्श न मिले, तब तक कभी कल्याण नहीं है। इसलिए सन्त कबीर कहते हैं– पहले साईं का संग, फिर सः माने वह परमात्मा, परमात्मा के स्वरूप में आपके स्वर की स्थिति आई। वह परमात्मा है कैसा?–

संग न सूती स्वाद न मानी, गयो जोबन सपने की नाईं॥
साईं के संग.....॥

लोक-व्यवहार में देखा जाता है कि शादी-विवाह के पश्चात् पति-पत्नी साथ रहते हैं किन्तु इस साईं के साथ रहने का अवसर मिला ही नहीं क्योंकि

जहाँ प्रभु जानने में आये तो '**जानत तुम्हहि तुम्हइ हो जाई।**' सेवक सदा के लिए खो जाता है, स्वामी का स्वरूप ही शेष बच रहता है। संग तो तब हो जब वह अलग, हम अलग हों। जब तक हम ईश्वर-पथ के पथिक थे तब तक अपनी अवस्थाओं और उससे मिलने वाली अनुभूतियों का स्वाद था कि प्रभु ने आज हमें ऐसा बताया, यह अनुभव मिला किन्तु जब उसके दर्शन, स्पर्श के साथ वही हो गये, उन्हीं के भाव को प्राप्त हो गये तो कौन किसका आनन्द ले; इसलिए वह स्वाद भी समाप्त और '**गयो जोबन सपने की नाईं।**'- साधना के उत्कर्ष का भान, ज्ञान-ध्यान की क्षमता, आन्तरिक शक्ति– यह सब जवानी स्वप्न जैसा प्रतीत होता है जैसे हम परमात्मा से कभी भिन्न थे ही नहीं। इसी को कबीर कहते हैं– '**सन्तो! सहज समाधि भली।**'- यह स्थिति सर्वोपरि है, सम है, आदि है, उसी के साथ रहनी हो गयी, उस परमात्म-भाव में प्रवेश मिला। '**साईं के संग सासुर आई**'- सुरा कहते हैं श्वास को! स माने वह परमात्मा सुरा में प्रवाहित हो गया और स्थिति आ गयी।

सारांशतः पहले दर्शन तब स्थिति! जब स्थिति आई, वह परमात्मा संग निवास करने के लिए भिन्न नहीं रह गया, न स्वाद ही रह गया कि यह अनुभव मिला, न साधना का यौवन ही रह गया कि हमारे भीतर यह शक्ति है, ज्ञान का बल है, ध्यान का बल है किन्तु वहाँ तक की दूरी तय कैसे हुई, इस पर कहते हैं–

जना चारि मिलि लगन शोधाई, जना पाँच मिलि मण्डप छाई।

'**जना चारि**'- बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा– नाम जपने की चार विधियाँ हैं। क्रमशः एक वाणी ने दूसरी को पकड़ा, दूसरी ने तीसरी को पकड़ा, तीसरी से चौथी पकड़ में आ गयी, क्रमशः चारों वाणियाँ मिलती चली गयीं। इनके द्वारा लगन की शोध मिलती गयी, लगन संशोधित होती गयी– '**जना चारि मिली लगन शोधाई**'। '**जना पाँच**'- रूप, रस, शब्द, गन्ध और स्पर्श! आँखें रूप देखती हैं तो हृदय में रूप आ गया। जिह्वा रस ढूँढ़ती है तो हृदय ने ब्रह्मपीयूष चखा, त्वचा ने प्रभु के चरणों का स्पर्श पाया,

कान ने प्रभु की वाणी सुनी। इन्द्रियाँ जो भोग बाहर ढूँढ़ रही थीं, वे सिमटकर हृदय में इष्ट के अनुरूप संचारित हो गयीं तो मण्डप छा उठा। परमात्मा की छत्रछाया, वरदहस्त मिल जाता है। पहले यही पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भजन में बाधक हुआ करती थीं–

पाँचों कुतिया राम की, करें भजन में भंग।
इनको टुकड़ा देइके, तब करिये सतसंग॥

कबीर ने इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को कुतिया की संज्ञा दी किन्तु जब पाँचों संयत हो गयीं, प्रभु के चरणों का स्पर्श पाया, उन्हीं के रूप से संतुष्ट हो गयीं, उनकी वाणी के लिए लालायित हो गयीं, मन-क्रम-वचन से उधर ही लौ लग चली, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ साथ देने वाली प्रभु के अनुरूप ढल गयीं तहाँ प्रभु की छाया मिल गयी, मण्डप छा गया। इसके पश्चात्–

सखी सहेलरि मंगल गावें, सुख दुख माथे हरदी चढ़ाई।

इसके पूर्व इन्द्रियाँ ही साधक की शत्रु थीं। '**जहँ तहँ इन्द्रिन्ह तान्यो**' *(विनयपत्रिका, पद 88)*- जिधर ही इन्होंने खींच लिया, गिरना पड़ा। भगवान श्रीकृष्ण ने इन्द्रियों को बलात् घसीटकर दस्यु की तरह अपहर्त्ता बताया। इन्द्रियाँ प्रमथन स्वभाववाली हैं। जिस एक इन्द्रिय के साथ भी मन रहता है, उस अयुक्त मन को घसीटकर, उठाकर पटक देती हैं। किन्तु साधना के सही दौर में पड़कर जब ये संयत हो जाती हैं तो यही मित्र हैं, सखी बन जाती हैं।

आदि शंकराचार्य ने कहा– '**के शत्रवे सन्ति निजेन्द्रियाणि। तान्येव मित्राणि जितानि यानि।**' शिष्य ने पूछा– भगवन्! शत्रु कौन है? उन्होंने बताया– अपनी इन्द्रियाँ ही! किन्तु यदि वे जीत ली जाती हैं तो मित्र बनकर मित्रता में बरतती हैं। अब जब ये इष्ट के अनुरूप ढल गयीं तो अब सखी हैं, सहेलरि हैं, भली प्रकार साथ निर्वाह करनेवाली हैं। ये '**मंगल गावे**'– आज तक ये इन्द्रियाँ अमंगल गायन करती थीं, जन्म-मृत्यु की परिधि में घुमाने का अनिष्टकारी कृत्य करती थीं, अब ये मंगल अर्थात् परम कल्याण का गायन-

चिन्तन करने लगीं। '**सुख दुख माथे हरदी चढ़ाई**'- हृदय की स्थिति सुख-दुःख से ऊपर उठ गयी। इन्द्रियाँ ही तो सुख-दुःख धारण करती हैं। जब वे मंगल गायन में लग गयीं तो सुख-दुःख का भान ही समाप्त हो गया। अनुकूल वस्तु मिलने पर न प्रसन्नता हो और प्रतिकूलता में कोई दुःख प्रतीत न हो तब समझना चाहिए कि अब साधन ठीक चल रहा है, इन्द्रियाँ सही दिशा में हैं। इसके आगे बन्धन छूटने का समय आने पर विघ्न आने लगते हैं–

'**नाना रूप पड़ी मन भँवरी**'- इन्द्रियों के संयत हो जाने पर ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ मन में भँवर डालने लगती हैं। उनके प्रलोभन में फँसने पर साधक नष्ट हो जाता है–

छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया।।

(रामचरितमानस, 7/117/6)

जब माया देखती है कि अब इस जीव का बन्धन छूटने वाला है, वह अनेक विघ्न उपस्थित कर देती है–

रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई।।
कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा।।

(रामचरितमानस, 7/117/7-8)

वह ऋद्धियाँ प्रदान कर देती है, यहाँ तक कि सिद्ध बना देती है। ऐसी अवस्था वाला साधक समीप से निकल भर जाय तो मरणासन्न व्यक्ति की साँस लौट आयेगी। श्वास भले ही लौट आये, उसका स्वरूप ही ऐसा है; किन्तु जहाँ साधक ने स्वीकार किया कि यह हमारे माध्यम से हुआ है, वहाँ माया कार्य कर लेगी। यही मन का भँवर में फँसना है। भगवान कभी सिद्ध नहीं बनाते। माया ही थोड़ा चारा फेंक देती है। माया कला करके, छल करके बलपूर्वक विज्ञानरूपी दीप को बुझा देती है। अन्तःकरण के प्रवेशद्वार इन्द्रियों के देवता भी विघ्न उपस्थित करते हैं। वे विषयरूपी हवा के झोकों को देखते ही हृदय के किवाड़ खोल देते हैं, विज्ञान दीप बुझ जाता है–

ग्रन्थि न छूटि मिटा सो प्रकासा।
बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥

(रामचरितमानस, 7/117/14)

बन्धन छूटने नहीं पाया और प्रकाश लुप्त हो गया। कुछ दिनों का चमत्कार भी समाप्त हो गया। विषयरूपी वायु से बुद्धि व्याकुल हो गयी। इसी को कबीर ने भँवर की संज्ञा दी है जो ऋद्धि-सिद्धि, मान-सम्मान के रूप में साधक के प्रलोभन हेतु आते हैं।

गाँठ जोरि भाई पतियाई।

ईश्वर-पथ में भाव ही भाई है। यदि भाव नष्ट हो गया, फिर तो कुछ भी नहीं बचा! किन्तु यदि इष्ट में भाव से डोरी लगी हुई है तो यद्यपि अवरोध आयेंगे, फिर भी कटते जायेंगे। यदि भाई ने गाँठ जोड़ लिया है, भाव का बन्धन पक्का है तो इस भँवर से वह '**पतियाई**'- पार लगा देगा। प्रभु विश्वास देते जाते हैं, साधक पतियाने लगता है। वह देखता है कि विघ्न क्षणिक हैं, शाश्वत तो परमात्मा है।

अरघे दे ले चली सुहासिनि, चौके राँड़ भई संग साईं॥
साईं के संग.....॥

अर्ध्य पाँवड़े पूजन समर्पित करते हुए जब तक अधूरी अवस्था थी, विकारों को समाप्त करना और ईश्वर की प्रक्रिया में प्रवेश लेना था, तब तक तो '**ले चली सुहासिनि**'- प्रभु हर समय उठाते-बैठाते-चलाते, हर समय भजन कराते निर्भय कराते ले चलते थे। वे थे और मैं था उनका अनुयायी! यही सौभाग्यशालिनी सुहासिन का चलना है किन्तु '**चौके राँड़ भई**'- मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार– यह चतुष्टय अन्तःकरण जिसे सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं, ये चारों जब कूटस्थ हो गये, स्थिर हो गये, यही कबीर चौरा या चौका है। जहाँ ये स्थिर हुए, अब संकल्प-विकल्प करे तो कौन करे? सेवक स्वामी में परिवर्तित हो गया, पति के रूप में दिखाने को कोई अलग बचा ही नहीं। तो क्या प्रियतम समाप्त हो गये? कबीर कहते हैं– नहीं! '**संग साईं**'-

जिस प्रभु को ढूँढ़ना था, उसको अपनी आत्मा में प्राप्त कर लेता है, साईं तो संग में ही है। आत्मा-परमात्मा का भेद समाप्त हो गया। वह अभिन्न हो गया। इस चित्त-निरोध के साथ–

मन मिटा माया मिटी, हंसा बेपरवाह।
जाका कछू न चाहिए, सोई शाहंशाह॥

मन के निरोध होते ही मन मिट गया और मन के मिटते ही माया भी मिट गयी। मन के ऊपर ही तो आना-जाना था। वह धरातल ही समाप्त हो गया। माया रुके तो कहाँ रुके? उस अवस्था में हंस अर्थात् यह जीवात्मा निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त हो जाता है क्योंकि आगे कोई सत्ता ही नहीं रह गयी। ऐसा साधक बादशाहों का भी बादशाह है।

मन मथ मरे न जीवे, जीवहिं मरन न होय।
सहज सनेही राम बिन, भव पार न पावै कोय॥

मन का मन्थन करना और मर जाना; मन को ऐसा मिटा देना कि वह पुनः जीवित न हो, फिर वह कभी जीव भाव को प्राप्त नहीं होगा। वह ऐसी स्थिति पा जायेगा कि उस जीव की फिर कभी मृत्यु नहीं होगी किन्तु यदि राम से '**सहज सनेह**'- हार्दिक लगाव नहीं है तो यह भव पार जाने वाली अवस्था नहीं मिल सकती। न तो आपको अविनाशी पद मिलेगा न परमात्मा। मन ही बीच में एक रुकावट था, वही निरुद्ध हो गया तो '**चौके राँड़ भई**'- चित्त-निरोध के साथ ही परम चेतन परमात्मा का प्रतिबिम्ब हृदय में आ जायेगा। बाहर कहीं प्रभु रह ही नहीं गया, बाहर कोई दिखावा नहीं। वह हृदय-देश में प्रकट हो गये और मैं भी उसी भाव में स्थित हो गया। अन्त में कहते हैं–

भयो विवाह चली बिन दुलहा, बाट जात समधी समुझाई।

सम्बन्ध तो हुआ लेकिन '**चली बिन दुलहा**'- अलग से हम बतायें कि दूल्हा यह है तो वहाँ कोई दूल्हा नहीं है। भक्तिपथ पर चलते-चलते '**सम आदि सः समाधि**'- आदि तत्त्व परमात्मा है, उसके साथ ही स्थिति आयी तो जो स्वरूप भूला था, वह स्वरूप पकड़ में आ गया। वेदान्तियों का शुद्ध-

बुद्ध शाश्वत यही है किन्तु वे केवल बातों से सिद्ध करना चाहते हैं जबकि कबीर के अनुसार यह साधनगम्य है। बिना साधन के न तो चित्त कूटस्थ होगा और चित्त के रहते न माया पिण्ड छोड़ेगी और न दर्शन, प्रवेश की स्थिति ही मिलेगी। '**कह कबीर हम गवने जइबे**'– कबीर कहते हैं– मैं इस पथ पर गमन करूँगा। किसलिए? तरने के लिए, भवसागर पार हो जाने के लिए! तरने की पहचान क्या है? कबीर के शब्दों में '**तरब कन्त लै तूर बजाई**'- उस कन्त अर्थात् प्रियतम को प्राप्त करके तुरीयावस्था में सदैव निमग्न रहूँगा। तूर अर्थात् तुरही बजाकर, डंके की चोट पर उस स्थिति को प्राप्त करके रहूँगा।

कबीर ने साधक को प्रायः लड़की के रूप में सम्बोधित किया है क्योंकि भजन शरीर नहीं करता। शरीर तो साधनधाम है। आप से या माताओं से साधन-भजन जब भी पार लगता है तो इष्टोन्मुखी लगन ही भजन कराती है। तुलसी हो, मीरा हो अथवा मदालसा; उनमें इष्टोन्मुखी लगन जागृत हुई, उसने भजन कराया। इसलिए लौ रूपी लड़की। लगन उत्थान होते-होते जब समाधि में प्रवेश पा गयी तो उसमें आत्मस्वरूप की अनुभूति मिल गयी और इसी का नाम मोक्ष है। कबीर कहते हैं– मैं इसी पथ पर गमन करूँगा। इस पथ पर मैंने चलकर देखा है। किसलिए? उस प्रभु का साक्षात् दर्शन करने के लिए, तर जाने के लिए और भवसागर तर जाने के पश्चात् सदा उस प्रभु में निमग्न रहने के लिए। अतः भजन नितान्त आवश्यक है।

अस्तु, जबसे आपकी समझ काम करने लगे, करना इतना ही है कि आप जिस ईश्वर की सन्तान हो- '**ईश्वर अंश जीव अविनाशी**'– उस ईश्वर के प्रति हृदय में श्रद्धा स्थिर कर लो, नाम का जप करो, सत्पुरुषों की सेवा करो। स्वल्प अभ्यास से भी कुछ ही दिनों में आपको रास्ता मिल जायेगा।

!! बोलिये श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय !!

अमृतवाणी

(कैसेट संख्या– 3:3)

भजन किसका, कैसे और क्यों?

मनुष्य देह की सराहना देवता और सन्तों ने की है। केवल एक प्रयोजन के लिए– '**सो सनेह सिय पी के**' *(विनयपत्रिका, पद 175/2)*- वह परमात्मा के चरण कमल में स्नेह है। उस परमात्मा की प्राप्ति इस मानव तन से सम्भव है– मात्र इतने के लिए! अनन्त योनियाँ भोग भोगने के लिए हैं, नवीन भजन-चिन्तन कर परमात्मा तक की दूरी तय नहीं कर सकते। मनुष्ययोनि ही भवसागर से पार होने का उपाय है– **नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो।** *(रामचरितमानस, 7/43/7 क)*- मनुष्य शरीर भवसागर से पार होने का एक जहाज है।

भजन एक परमात्मा का ही करना चाहिए; क्योंकि–

बारि मथें घृत होय बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धान्त अपेल॥

(रामचरितमानस, 7/122 क)

पानी मथने से भले ही घी निकल आये– यह असम्भव कदाचित् संभव हो जाय, बालू पेरने से तेल निकल आये किन्तु बिना हरि, एक परमात्मा के भजन के कोई भव पार हो ही नहीं सकता। भजन किसका करना है? हरि का! एक परमात्मा का! सिवाय परमात्मा के और किसी का अस्तित्व है ही नहीं। देवलोक में भी ऐसा कोई नहीं है जो मृत्यु की इस परिधि से बाहर हो। अपनी आयु पूरी करके उनको भी गिरना पड़ता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण का कहना है–

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। *(गीता, 9/21)*

सत्कर्मों के फलस्वरूप पुरुष विशाल, स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेते हैं किन्तु पुण्य क्षीण हो जाने पर वहीं गिर जाते हैं जहाँ से चलना आरम्भ किया था। देवता उत्तम भोग निःसन्देह पाते हैं किन्तु नवीन साधना करके मोक्ष नहीं पा सकते। उसका उपाय केवल मानव-तन में है और मानव-तन में भी उपाय है तो केवल हरि का भजन, अन्य किसी का नहीं। देवता मृत्युलोक में गिरते हैं, कीट-पतंग योनियों में जाते हैं। इसलिए भजन केवल एक परमात्मा का करना चाहिए। विस्तार से इस प्रकरण पर एक पुस्तिका आश्रम ट्रस्ट से प्रकाशित है। प्रश्न उठता है कि हरि का भजन करें तो कैसे करें?

रामचरितमानस के अरण्यकाण्ड में शबरी के आश्रम में भगवान श्रीराम ने भजन के नौ सोपानों का वर्णन इस प्रकार किया–

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसर रति मम कथा प्रसंगा।।
(रामचरितमानस, 3/34/8)

परमात्मा की भक्ति का प्रथम चरण सन्तों का संग है। वहाँ परमात्मा के कथा-प्रसंग में अभिरुचि होगी कि ईश्वर कहाँ रहता है, उसे कैसे ढूँढ़ा जाय। ईश्वर और हमारे बीच में रुकावट क्या है? उसे दूर कैसे किया जाय? उस कथा का सारांश है गुरु का चरण–

गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान।।
(रामचरितमानस, 3/35)

कथा का सारांश निकलेगा गुरु महाराज के चरण कमलों की भक्ति! गुरु की भक्ति से प्रभु की लीला का संचार मिल जायेगा। अब प्रभु का गुणगान करें कि वह कैसे व्यापक हैं? कैसे वह करुणानिधान हैं? इसके उपरान्त–

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा।।
(रामचरितमानस, 3/35/1)

मुझमें दृढ़ विश्वास के साथ मेरे मन्त्र का जप– नाम-जप पाँचवीं श्रेणी का भजन है। भक्ति की इतनी श्रेणियाँ घर-गृहस्थी में रहते हुए भी तय की जा सकती हैं। छठीं श्रेणी में आते-आते '**बिरति बहु करमा**'- बहुत-सी जिम्मेदारियों से निवृत्ति हो जाती है। वैसे तीसरी श्रेणी से ही कर्मों से विरति की ओर अग्रसर हो जाना चाहिए, अपनी जिम्मेदारियाँ बाल-बच्चों को सौंप देना चाहिए। भार उनके कन्धों पर दे देना चाहिए जो उसके प्रत्याशी हों। इस छठें स्तर तक पहुँचते-पहुँचते जिम्मेदारियों से निवृत्त हो जाना चाहिए।

सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें सन्त अधिक करि लेखा।।

(रामचरितमानस, 3/35/3)

इस वैराग्य के साथ भक्ति की सातवीं सीढ़ी पर भगवान सर्वत्र दिखायी देंगे। आज कहने के लिए ही भगवान सर्वत्र हैं किन्तु वैराग्य के साथ एकान्त में जहाँ चिन्तन आरम्भ हुआ, प्रभु की महिमा सर्वत्र झलकने लगती है। सबमें समभाव आ जाता है, कहीं विषमता नहीं रह जाती। कोई मित्र नहीं जिससे हम प्रेम करें, कोई शत्रु नहीं जिससे द्वेष करें। '**मोहि मय जग देखा**'- सबमें परमात्मा का रूप, इष्ट का रूप देखना चाहिए।

आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा।।

(रामचरितमानस, 3/35/4)

आठवीं श्रेणी में भक्ति पहुँचने पर '**जथा लाभ सन्तोषा**'- जिस लाभ के लिये भजन कर रहे थे, वही मिल गया तब सन्तोष; और उसी के लिए चिन्तन में डूबे भर रहें, प्रभु को तंग न करें कि इतना भजन किया, आपने ध्यान नहीं दिया, शिकायत न करें। वह जानते हैं जितना कुछ आपने किया है वही तो निकलकर सामने आ रहा है। लाभ का आशय वैभव-सम्पदा नहीं। साधक अब सर्वत्र ईश्वर को देख रहा है अतः लाभ भी एक ही दिशा में है– प्रभु से मिलने वाली विभूतियाँ, ईश्वरीय पथ की योग्यता! जैसा जितना मिले उसी में सन्तुष्ट रहते हुए कर्म अर्थात् आराधना में प्रवृत्त रहें। स्वप्न में भी ईश्वर या इष्ट पर दोषारोपण नहीं करना चाहिए, सद्गुरु पर दोषारोपण नहीं करना चाहिए।

नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

(रामचरितमानस, 3/35/5)

भक्ति के अन्तिम सोपान का लक्षण है हृदय की सरलता! सबके प्रति जो हृदय में हो वही जिह्वा पर भी हो। हृदय में कुछ तथा जुबान पर कुछ अन्य– ऐसा साधक सफल नहीं होता। हृदय में मात्र परमात्मा का ही भरोसा हो, अन्य किसी से आशावान न हों। हृदय में न हर्ष हो, न दीनताजन्य विषाद हो।

भक्ति का सर्वोपरि मानदण्ड है एक परमात्मा के प्रति श्रद्धा का स्थिर होना! अगस्त्य जी के शिष्य सुतीक्ष्ण को यह भरोसा था– '**मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥**' *(रामचरितमानस, 3/9/2)*- ईश्वर एक है तो दो-चार का भरोसा क्यों? बस, भजन यहीं से आरम्भ हो जाता है।

भजन एक परमात्मा का ही करना है किन्तु इस भजन पथ में लगने के चार माध्यम हैं– नाम, रूप, रामकथा और अनुभव! इनमें सबसे प्राथमिक और पूर्तिपर्यन्त चलने वाला माध्यम है नाम! ईश्वर के नाम तो अनन्त हैं किन्तु वास्तविकता यही है कि ईश्वर का कोई नाम ही नहीं है। वह अनाम है, अरूप है, अमूर्त है, अजन्मा है, अव्यक्त है– व्यक्त ही नहीं होता। जब कोई वस्तु दिखायी पड़ेगी तो हम कोई नामकरण कर ही लेंगे किन्तु वह अगोचर है– इन्द्रियों द्वारा पकड़ में आने वाला नहीं है; अचिन्त्य है– चित्त और चित्त की लहरों से परे है तो भला नाम कैसा! परमात्मा के जितने भी नाम हैं, उन प्रभु की विभूतियों का चित्रण है; जैसे– वह विभु है अर्थात् सम्पूर्ण वैभव से युक्त है; वह प्रभु है क्योंकि सबका भरण-पोषण करनेवाला है; वह ईश्वर है अर्थात् स्वर (श्वास) में संकल्पों के निरोध के साथ उसकी ओट में छिपी सत्ता है। उसे भगवान भी कहते हैं– भग कहते हैं त्रिगुणमयी प्रकृति को; इसमें विद्या, अविद्या, ऐश्वर्य सब कुछ आ जाता है। वह इसका नियमन करने वाला है, संचालक है इसलिए उसका एक नाम भगवान है। उसका वाचक ओम् है– ओ माने वह अविनाशी परमात्मा, अहम् माने मैं स्वयं– आपके हृदय-देश

में जिसका वास हो। सारांशतः उसके कितने ही हजारों नाम हो सकते हैं जबकि किसी एक नाम से उसकी समस्त विभूतियों का चित्रण नहीं होता। वह आत्मा है अर्थात् सबके अन्तःकरण में उसका निवास है और यहाँ रहते हुए भी वह सबसे परे है इसलिए परमात्मा कहा जाता है। ये विविध दृष्टिकोण से उस सत्य के सम्बोधन हैं। उनका स्वयं कोई नाम नहीं है, किन्तु ईश्वर-पथ में भजन का सबसे बड़ा माध्यम, पहली सीढ़ी से अन्तिम क्षणों तक साथ देता है नामजप! उस एक अविनाशी परमात्मा का जो द्योतक हो, जो उसका परिचायक हो ऐसे किसी एक नाम का– ॐ अथवा राम का जप करना चाहिए।

आदिशास्त्र गीता में ॐ जपने का निर्देश भगवान श्रीकृष्ण ने दिया है। वैदिक, औपनिषदीय ऋषियों ने ॐ का ही जप किया किन्तु मध्यकाल में शिक्षा को संकीर्ण कर ॐ जपने के अधिकार-अनधिकार का विवाद होते देख भक्तिकालीन सन्तों ने जन-सामान्य को राम जपकर उसी परिणाम का उद्घोष किया जो ॐ जपने से मिलता है। राम उस ॐ से भिन्न हो, ऐसी कोई बात नहीं। ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। '**रमन्ते योगिनः यस्मिन् स राम।**'- जिसमें योगी लोग रमण करते हैं, रात-दिन जिसमें खोये रहते हैं, बाहर संसार की ओर दृष्टिपात् करने का जिन्हें अवकाश नहीं है, उस विज्ञान का नाम है राम! वह भला क्या है? योगीजन किसमें खोये रहते हैं?–

जद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि सन्ता।।

(रामचरितमानस, 3/12/12)

यद्यपि ब्रह्म अखण्ड है– उसे खण्डित नहीं किया जा सकता; वह अनन्त है– हमारे पकड़ में कैसे आयेगा तो '**अनुभवगम्य भजहिं जेहि सन्ता।**'- अनुभव के द्वारा वह सम्भव है और अनुभव के आश्रित जो भजने वाले हैं, वे सन्त हैं। यह अनुभव ही राम की संचार प्रणाली है। भव कहते हैं संसार को, आवागमन को; अन कहते हैं अतीत को– इस प्रकार संसार के आवागमन से अतीत कर देने वाली जागृति-विशेष का नाम अनुभव है। वह

है आत्मा की आवाज का प्रस्फुटित होना। जिस परमात्मा की हमें चाह है, वही आवाज देने लगा। उन्हीं के निर्देशन में चलकर परमात्मा तक की दूरी तय की जाती है। यह अपनी इन्द्रियों का देखा-सुना मायिक सत्य नहीं है। यह प्रसारण ईश्वर-प्रेरित, ईश्वर-प्रदत्त है इसलिए उसे राम कहते हैं। गुरुनानक, तुलसी इत्यादि के समय 'राम' मंत्र जपने पर अधिक प्रयोग किया गया। देशकाल और भाषागत भेद से और भी कुछ कहने में आया हो सकता है लेकिन सबका अर्थ एक ही है। जपने के लिए प्रयुक्त सभी सम्बोधन एक परमात्मा के परिचायक हैं, अन्य किसी सम्बोधन से जपने का विधान नहीं है। हाँ, सम्बोधन बहुत लम्बा नहीं होना चाहिए।

मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरि हर सुर सर्ब।

(रामचरितमानस, 1/256)

मंत्र बहुत छोटा होता है किन्तु उसमें क्षमता इतनी कि उससे ब्रह्मा, विष्णु, महेश समेत सम्पूर्ण देवता, परब्रह्म परमात्मा तक वश में हो जाते हैं। अर्थात् जप के लिए नाम बहुत छोटा होना चाहिए, जैसे– ओम् अथवा राम! क्योंकि उन्नत अवस्था में यह श्वास से जपा जाता है। श्वास आयी और गयी! इस श्वास के आने-जाने में एक शब्द से अधिक की भावना सम्भव नहीं है। इसलिए जप का नाम बहुत छोटा होना चाहिए जो आसानी से श्वास में ढल सके! कुछ लोग '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' (अर्थात् ॐ शब्द से उच्चरित, सबके श्वास में निवास करने वाले परमात्मा, मैं आपके प्रति नमन करता हूँ।) या इतना विस्तृत कुछ जपते हैं। किन्तु ये प्रार्थनाएँ हैं। यह नाम नहीं है जिसका जप किया जाय!

मन दुर्धर्ष है जिसे पराजित करना कठिन है। परमात्मा और हमारे बीच में रुकावट है तो हमारा मन। मन का वेग! यह वायु से भी तीव्र गति से चलने वाला है। '**मन ही आपै जगत बना के, ऊँच नीच तन पाया। मन ही सरग नरक भुक्तावे, मन से आया जाया। सन्तो! मन सबको भरमाया।।**'– इस मन ने ही सबको भटका रखा है। महर्षि पतञ्जलि ने मन को चित्तवृत्ति

कहा। योग को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा– '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**'- चित्तवृत्तियों का निरोध, अचल स्थिर ठहर जाना योग है। जहाँ वृत्तियाँ शान्त हुईं, मन स्थिर टिका तो '**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**'- उस समय द्रष्टा यह आत्मा अपने शाश्वत स्वरूप में स्थित हो जाती है।

पूज्य गुरु महाराज का कहना था कि मन मदमस्त हाथी के समान है, मतवाले शराबी हाथी की तरह झूमता ही रहता है। यह जितना बलवान है, इसे बाँधने के लिए इससे भी बलवान स्तम्भ चाहिए। इससे भी बलवान इसके लिए सीकड़ चाहिए, फिर इसे बाँध दिया जाय। सीकड़ से बाँध देने पर हाथी शान्त नहीं हो जाता, कुछ दिन झूमता है, हिलता-डुलता रहता है, क्रमशः शिथिल होते-होते शान्त होता है, रुक जाता है। यह श्वास ही स्तम्भ है। इसमें सुरति का सीकड़ लगाकर मनरूपी हाथी को बाँध दें। श्वास आई तो ओम्, गयी तो ओम्– श्वास से जप करें। यह जप मन से होता है, सुरत से ही श्वास को देखते रहें कि श्वास में नाम के अतिरिक्त अन्य चिन्तन प्रवेश न कर पायें, फिर भी यह इतर संकल्प करेगा। मन जहाँ भी जाय, जिस माध्यम से जाय उसे वहाँ से घसीटकर पुनः श्वास द्वारा नाम-जप में लगायें। सतत् अभ्यास के फलस्वरूप धीरे-धीरे यह मन शिथिल पड़ता है, स्थिर हो जाता है और स्थिर मन भी जब मिट जाय, परिणाम निकल आता है जिसका नाम परमात्मा है, मोक्ष है।

मन मिटा माया मिटि, हंसा बेपरवाह।
जाका कछु न चाहिए, सोइ शाहंशाह॥

मन मिटा, तब माया मिटी। माया मिट ही गयी तब हंसा- यह आत्मा निश्चिन्त हो जाती है। '**जाका कछु न चाहिए**'- यदि आगे कोई सत्ता है तो चाह अवश्य होगी, जब प्राप्त होने योग्य कुछ बचा ही नहीं तो आप चाह किसकी करेंगे? इसलिए '**सोइ शाहंशाह**'- वह आप्तकाम पूर्णपुरुष है।

दुक्ख हरे सुक्ख को दिये, मन का कर दे अन्त।
कह कबीर कब मिलिहैं, (ऐसे) परम सनेही सन्त॥

दुःख को हर लें और बदले में सुख प्रदान कर दें– '**राम बिमुख सपनेहुँ सुख नाहीं**'- उनके सन्मुख कर दे और '**मन का कर दे अन्त**'- मन का निरोध ही न करे बल्कि उसे समाप्त कर दे। कबीर कहते हैं– ऐसे परम सनेही सन्त भला कब मिलें? यह सन्तत्व की कसौटी है कि शिष्य के मन का ही अन्त कर दें।

इस प्रकार मन के निरोध के लिए नामजप का सीकड़ चाहिए। मन को संयत कर देने वाले नाम का उतार-चढ़ाव श्वास के ऊपर है। पूज्य गुरु महाराज जी कहा करते थे कि जो श्वास का भजन नहीं जानते थे ऐसे साधुओं को महात्मा लोग अपनी कुटिया में दो रोटी भी नहीं देते थे कि यह स्वयं तो पथभ्रष्ट है ही, घूम-घूमकर दूसरों को गुमराह ही तो करेगा!

नाम चार श्रेणियों से जपा जाता है– बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। आरम्भिक दो श्रेणियों में नाम व्यक्त है, जिह्वा और कण्ठ से उच्चरित होता है लेकिन पश्यन्ती और परा में उतार-चढ़ाव श्वास पर है। इन चारों स्तरों पर भजन खूब करना चाहिए। एक परमात्मा में दृढ़संकल्प होकर यदि आपने नामजप आरम्भ कर दिया तो क्रिया को न जानते हुए भी आप क्रिया के पथ पर हैं।

मन को संयत करने का दूसरा माध्यम है ध्यान! हमने भगवान को देखा ही नहीं, उनका ध्यान कैसे करें? जो अमूर्त है– जिसकी कोई मूर्ति नहीं है; अरूप है– जिसका कोई रूप ही नहीं है; जो अव्यक्त है– जैसे यह वस्तु दिखायी दे रही है, आप दिखायी दे रहे हैं, वह दिखायी नहीं दे रहा है, हम उनके चरण कमलों का ध्यान कैसे करें? ध्यान हमें वैसे ही धरना है जैसा महापुरुषों ने कहा है–

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्ति, पूजामूलम् गुरोर्पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में बताया कि ईश्वरप्राप्ति का उपाय क्या है और इस रामायण को समझने की कुञ्जी क्या है? बालकाण्ड के मंगलाचरण में ही उन्होंने लिखा–

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

(रामचरितमानस, बालकाण्ड, श्लोक 2)

मैं भवानी और शंकर की वन्दना करता हूँ जो श्रद्धा और विश्वास के रूप हैं। हमें श्रद्धा करनी है और उनमें विश्वास लाना है। उनके बिना सिद्धजन भी हृदय में स्थित ईश्वर को नहीं जान पाते। तुलसीदास जी का ईश्वर हृदय में वास करता है, बाहर नहीं– '**अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी**' *(रामचरितमानस, 1/22/8)*। साधारण लोगों की कौन कहे, भजन इतना उन्नत हुआ कि सिद्धस्तर तक पहुँच गये– ऐसे सिद्धजन भी भवानी-शंकर की कृपा के बिना हृदय में स्थित ईश्वर को नहीं पहचान पाते अर्थात् ईश्वरप्राप्ति का उपाय शंकर और पार्वती में प्रीति है। अब हम उन्हें कहाँ पायें कि उनसे प्रीति करें और ईश्वर हृदय में मिले? संलग्न श्लोक में कहते हैं–

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥

(रामचरितमानस, बालकाण्ड, श्लोक 3)

'**गुरुं शंकररूपिणम्**'– सद्गुरु शंकरस्वरूप हैं, उनके चरण-कमलों की मैं वन्दना करता हूँ जिनके आश्रित हो जाने पर टेढ़ा चन्द्रमा भी सीधा, परम कल्याणकारी फल देने वाला हो जाता है। '**चन्द्रमा मनसो जातः**' *(पुरुषसूक्त)*, '**मन ससि चित्त महान**'– मन ही चन्द्रमा है। यह टेढ़ा है। यह कभी काम में, कभी क्रोध में, विविध मोह में, राग-द्वेष में जहाँ-तहाँ छलाँगें भरता ही रहता है। ईश्वर का निवास-स्थल होकर भी यह मल-आवरण-विक्षेप से ढँका हुआ है। सद्गुरु के आश्रय से यह टेढ़ा चन्द्रमा, टेढ़ा चित्त भी परम कल्याणकारी फल देने वाला हो जाता है क्योंकि मन जिस प्रकार सीधा होता है, उस विधि को सद्गुरु बता देते हैं और उस पर चला भी देते हैं। उनके पास उपाय है।

मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥

(रामचरितमानस, 1/31/9)

अर्थात् भाग्य में यदि असाध्य कुअंक, नरक लिखा है, यातनाएँ लिखी हैं वह भी मिट जायेंगे क्योंकि मंत्र में वह क्षमता है। सद्गुरु उसे जागृत कर देंगे और उस पथ पर चला देंगे जिससे कर्म-संस्कार मिटते हैं। मन का टेढ़ापन मिटता है, वह सीधा हो जाता है। यही है '**गुरुं शंकररूपिणम्**'। शंकर महापुरुषों की एक स्थिति है। पूर्ण महापुरुष शिवस्वरूप हैं। '**शंका अरिः स शंकर**'– वे शंकाओं से मुक्त हैं, निर्लेप हैं इसलिए शंकर हैं।

महर्षि की स्थिति से पूर्व बाल्मीकि का मन कितना टेढ़ा था! सन्त सद्गुरु का सान्निध्य मिला तो '**बालमीकि भये ब्रह्म समाना।**'- ब्रह्म की समानान्तर स्थिति वाले हो गये। अंगुलिमाल आरम्भिक जीवन में अत्यन्त क्रूर, दुर्दान्त दस्यु थे; एक महापुरुष का दर्शन हुआ, उनके प्रति समर्पण हुआ, जहाँ उस पथ पर दो कदम रखा, जीवनकाल में ही अरिहन्त पद को प्राप्त कर लिया। शरीर तो रहने का एक मकान मात्र है। इसमें यदि कुछ सीधापन-टेढ़ापन है, मन की वृत्तियों का है, वही मन सीधा हो जाता है, सद्गुरु के आश्रित हो जाता है। शंभु अर्थात् स्वयंभू जो स्वयम् की स्थिति वाला है, शिव प्रकृति की सीमाओं से अतीत है इसीलिए उसे शिव कहते हैं–

सुकृति संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किएँ तिलक गुन गन बस करनी॥

(रामचरितमानस, बालकाण्ड, सोरठा 5/3-4)

पुण्यात्मा शंकर जी के शरीर में जो निर्मल विभूति है, इन गुरु महाराज के ही चरणों की उपज है। शंकर जी में अनेकों विमल विभूतियाँ हैं, जैसे– वह आशुतोष, अवढरदानी हैं।

कासीं मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी॥

(रामचरितमानस, 1/118/1)

उनके नाम के बल से शंकर जी स्वरूप से मुक्ति प्रदान कर देते हैं। वे भूतनाथ हैं– सभी जीवों के स्वामी! ये सभी विभूतियाँ गुरु महाराज के चरण रज की ही देन हैं। शंकर तो पाप और पुण्य से परे होता है फिर पुण्यात्मा

शंकर कैसा? सुकृति शंभु कैसा? वास्तव में कोई भी पुण्य और पाप से अतीत शिवतत्त्व में स्थित हुआ किन्तु आरम्भ में तो वह साधक ही था। कोई पुण्यात्मा साधक गुरु महाराज के चरण रज का आश्रय लेकर उनको हृदय में धारण कर शिवतत्त्व की स्थिति तय कर लेता है और उस निर्मल विभूति से संयुक्त हो जाता है। शिव एक स्थिति है।

श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती।।
दलन मोह तम सो सप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू।।

(रामचरितमानस, बालकाण्ड, सोरठा 5/5-6)

श्री गुरु महाराज के चरण-नखों की ज्योति मणि और माणिक्य के तुल्य है। इसका स्मरण करने से हृदय में दिव्यदृष्टि का संचार होता है। साथ ही वे लोग बड़े भाग्यशाली हैं जिनके हृदय में गुरु महाराज के चरण आ जायँ। मान लें किसी ने श्रद्धापूर्वक स्मरण किया और हृदय में चरण आ ही गये तो उससे लाभ क्या? तो–

उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।।

(रामचरितमानस, बालकाण्ड, सोरठा 5/7)

हृदय के निर्मल नेत्र खुल जायेंगे और भव रजनी अर्थात् जन्म-मृत्यु के दोष और दुःख मिट जायेंगे। इस प्रकार ध्यान गुरु महाराज के चरणों का ही करना है। उससे,

सूझहिं राम चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक।।

(रामचरितमानस, बालकाण्ड, सोरठा 5/8)

रामचरितमानस के प्रति सूझ पैदा हो जाती है। गुप्त- जो लिखने में नहीं आया और प्रकट- जो लिखने में आ गया; '**जो जेहि खानिक**'- जहाँ जो जिस स्थान में है अर्थात् परमात्मा के अन्तराल में जो विभूतियाँ छिपी हैं, वह सब विदित हो जायेंगी। कब? जब गुरु महाराज का चरण आपके हृदय में आ जायेगा। अर्थात् ध्यान सद्गुरु का और विदित होती हैं परमात्मा की

विभूतियाँ, परमात्मा का स्वरूप; ब्रह्म की गहराइयों का हाल सूझेगा, रामचरितमानस के प्रति सूझ पैदा हो जायेगी।

वस्तुतः शास्त्र कोई विरला महापुरुष जानता है, यह उनके हृदय की वस्तु है और उनके निर्देशन में कोई विरला अधिकारी ही पढ़ता है। सब न पढ़ते हैं, न जानते हैं। शंकर महापुरुषों का सम्बोधन है इसीलिए महापुरुषों ने शंकर की बहुत महिमा का वर्णन किया है। आदि शंकराचार्य ने कहा– '**कः पूजनीयः? शिवतत्त्वनिष्ठः**।' शिष्य ने आचार्य से पूछा– सृष्टि में पूजनीय कौन है? आचार्य ने कहा– '**शिवतत्त्वनिष्ठः**'- जो शिवतत्त्व में स्थित है वह महापुरुष। शंकराचार्य ने अपना स्वरूप बताया तो कहा– '**शिवो केवलोऽहम्**– मैं शिवस्वरूप हूँ अर्थात् यह स्थिति सबके लिए सुलभ है।

रामचरितमानस में शिव-महिमा का वर्णन करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं–

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥

(रामचरितमानस, 1/137/7)

सत्-रज-तम त्रिगुणमयी प्रकृति के ये तीन नगर हैं, तीन पुर हैं। इनका अन्त करने वाला त्रिपुरारि है अर्थात् त्रिगुणातीत, स्वरूपस्थ महापुरुष! यदि वह कृपा न करें तो मेरी भक्ति कोई नहीं पा सकता।

सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥

(रामचरितमानस, 7/105/2)

सेवा शिव की करें, भक्ति राम की मिलेगी। अन्यत्र है–

बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू॥

(रामचरितमानस, 1/103/6)

बिना छल, मन-वचन और कर्म से निश्छल होकर '**बिस्वनाथ**'- विश्व के जो नाथ हैं, स्वामी हैं गुलाम नहीं, उनके चरण-कमलों में प्रीति– '**राम भगत कर लच्छन एहू**'- यह रामभक्त के लक्षण हैं। ध्यान धरा हमने शिव

के चरणों का और भक्ति पूरी हो गयी राम जी की, कितना विचित्र है! भोजन आप करें और पेट हमारा भर जाय! किन्तु अध्यात्म में ठीक ऐसा ही है।

संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी।।

(रामचरितमानस, 6/1/8)

शंकाओं से जो मुक्त हैं, शिवतत्त्व में स्थित सद्गुरु महापुरुष से विमुख होकर मेरी भक्ति चाहता है वह मूढ़ है, नरकगामी है। उसकी बुद्धि अत्यन्त अल्प है!

औरउ एक गुपुत मत, सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि।।

(रामचरितमानस, 7/45)

परमात्मा राम ने एक बार सभा बुलाई। उस विशाल जनसभा में भगवान ने कहा कि आप सबसे एक अत्यन्त गोपनीय रहस्य का उद्घाटन करने जा रहा हूँ, हाथ जोड़कर कह रहा हूँ! परम ब्रह्म परमात्मा को हाथ जोड़ने की क्या आवश्यकता थी? अनुरोध इसलिए कि जीवमात्र के लिए उनकी करुणा है। जो बात वह कहने जा रहे हैं, गले के नीचे उतरने वाली नहीं है। गुरु को जब हम-आप देखते हैं तो उनका शरीर ही तो दृष्टिगोचर होता है। वे शिव-स्वरूप में स्थित महापुरुष हैं- यह हठात् समझ में नहीं आता जब तक प्रभु करुणा कर समझा न दें। भले तत्काल समझ में न जाये, देर से समझ में आये किन्तु सत्य यही है इसलिए विनय के साथ कह रहे हैं कि '**संकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि।**'– शिव-स्वरूप महापुरुष के बिना कोई मेरी भक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। यदि परमात्मा को प्राप्त करना है तो ध्यान सद्गुरु के चरणों का ही करना होगा।

बहुत से लोग केवल गुरु-गुरु जपते हैं कि जब सब गुरु ही हैं तो भगवान की क्या आवश्यकता? हो गया भजन! कुछ लोग गुरु के चरणों का ध्यान नहीं धरते, कहते हैं हमारे गुरु तो सीधे भगवान ही हैं; किन्तु इन दोनों मान्यताओं का खण्डन करते हुए परमात्मा राम कहते हैं–

संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महुँ बास॥

(रामचरितमानस, 6/2)

शंकर का तो प्यारा है, सद्गुरु के ऊपर निर्भर है लेकिन '**मम द्रोही**'- परमात्मा को नहीं चाहता, उनका सुमिरन नहीं करता अथवा परमात्मा का प्रेमी हो गया और शिव का द्रोही है कि परमात्मा ही गुरु हैं, हमें गुरु की क्या आवश्यकता? '**ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महुँ बास।**'- ऐसे लोग एक कल्प अर्थात् एक जन्म तक घोर नरक में वास करेंगे। इसके पश्चात् वह रास्ते पर ही आयेंगे क्योंकि ईश्वर-पथ में कभी बीज का नाश नहीं होता। यदि एक बार क्रिया जाग्रत हो गयी, इस पथ को समझकर आपने दस कदम रख दिया, अगले जन्म में वहीं से साधन आरम्भ करेंगे जहाँ से साधन छूटा था। माया में ऐसा कोई यन्त्र नहीं है जो इस सत्य को मिटा दे। माया केवल विलम्ब कर सकती है इसलिए वह एक कल्प अवश्य भोगेगा! इसलिए ध्यान सद्गुरु के चरणों का और उसके द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का विधान है। सतत् सुमिरन बना रहना चाहिए, प्रभु से प्रार्थना बनी रहे।

पंचवटी में लक्ष्मण ने परमात्मा राम से पूछा कि प्रभो! माया क्या है? ब्रह्म क्या है? ज्ञान-वैराग्य क्या है और सुख का मूल क्या है? भगवान ने कहा–

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो सन्त होइँ अनुकूला॥

(रामचरितमानस, 3/15/4)

लक्ष्मण! अनुपम सुख की मूल तो भक्ति है। लक्ष्मण ने कहा– तो प्रभो! प्रदान करें! राम ने कहा– नहीं लक्ष्मण! इसे सीधे तो मैं भी नहीं दे सकता। '**मिलइ जो सन्त होइँ अनुकूला।**'– वह भक्ति तभी मिलेगी जब कोई सन्त अनुकूल हो। उधर शंकर बिना कोई भक्ति नहीं पा सकता और यहाँ कहते हैं– सन्त बिना कोई पा नहीं सकता। स्वयं मैं भी नहीं दे सकता। अतः ईश्वर-पथ में ध्यान सद्गुरु के स्वरूप का ही करना चाहिए।

गीता के आरम्भ में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के छिटपुट सन्देहों का निवारण किया। पहले अध्याय में अर्जुन धर्म के नाम पर युद्ध से विरत हो रहा था। भगवान ने धीरे से उसे धर्म का विवरण समझाया कि सत्य केवल आत्मा है। विधाता और उससे उत्पन्न सृष्टि नश्वर है। अर्जुन प्रश्न करते गये, भगवान समझाते गये। लगभग चौबीस प्रश्न अर्जुन ने किये और जो वह नहीं कर सके, उसे परमात्मा ने स्वयं समझाया। अन्ततः जब उसमें पात्रता आ गयी तब अठारहवें अध्याय में भगवान ने अर्जुन से पूछा कि जानते हो ईश्वर कहाँ रहता है? स्वयं उत्तर भी दिया–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ *(गीता, 18/61)*

अर्जुन! ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय-देश में निवास करता है। इतना समीप है तो लोग देखते क्यों नहीं? भगवान बताते हैं कि लोग मायारूपी यन्त्र में स्वयं ही दौड़कर चढ़ गये और भ्रमवश भटकते ही रहते हैं। ईश्वर हृदय में है तो शरण किसकी जायँ?

तमेव शरण गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता, 18/62)

उस हृदय-स्थित ईश्वर की शरण जायँ। '**सर्वभावेन**'- सम्पूर्ण भाव से जायँ। ऐसा नहीं कि थोड़ा भाव देवी में, थोड़ा देवता में! तब तो हम तीन चौथाई बिखर गये। अतः पूर्ण श्रद्धा के साथ एक परमात्मा की शरण में जायँ! मान लें हम एक ईश्वर की शरण चले ही गये तो उससे लाभ क्या है? भगवान कहते हैं– '**तत्प्रसादात्परां शान्तिं**'- उनकी कृपा-प्रसाद से तुम परमशान्ति को प्राप्त कर लोगे और उस स्थान को पा जाओगे जो शाश्वत है। तुम्हारा धाम रहेगा और तुम्हारा जीवन शाश्वत रहेगा। किन्तु हृदय वाला ईश्वर दिखायी नहीं देता, उसकी शरण जायँ तो कैसे? उसकी विधि क्या है? तब भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– अर्जुन! इससे भी अत्यन्त गोपनीय मेरे वचन को सुन–

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रति जाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता, 18/65)

तू मेरे में ही मन वाला, मेरा अनन्य भक्त हो, मुझे ही नमस्कार कर, '**सर्वतोभावेन**'- मुझे समर्पण कर! तू मेरा अत्यन्त प्रिय है इसलिए मैं सत्य कहता हूँ तू मुझे ही प्राप्त होगा।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता, 18/66)

सम्पूर्ण धर्मों की चिन्ता छोड़कर, यह सही कि वह– इसे भूल जाओ, एकमात्र मेरी शरण में हो जाओ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू सम्पूर्ण पापों से भली प्रकार मुक्त हो जायेगा।

भगवान श्रीकृष्ण ने पहले बताया कि ईश्वर हृदय में रहता है, सम्पूर्ण भावों से उसकी शरण जाओ; यहाँ कहते हैं– अर्जुन! उससे भी गोपनीय बात सुनो कि सम्पूर्ण भावों से मेरी शरण आओ! एक ईश्वर हृदय में और एक कृष्ण बाहर खड़े हैं, अर्जुन किसकी शरण जाता? वास्तव में श्रीकृष्ण एक योगेश्वर थे, सद्गुरु थे और अर्जुन एक शिष्य! आरम्भ में ही उसने समर्पण कर दिया था– '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' *(गीता, 2/7)*- भगवन्! मुझे साधिये, सँभालिए क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ। अनुराग ही अर्जुन है। श्रीकृष्ण ने कहा– मेरा ध्यान! मेरा भक्त हो! मेरे में मन को लगाओ क्योंकि यदि हृदयस्थित ईश्वर को प्राप्त करना, जानना है तो ध्यान सद्गुरु के चरणों का ही है। अन्य कोई उपाय न गीता में है न वेद में, न मानस में और न कभी था। क्योंकि गुरु उस परमात्मा का एक साँचा है। उस साँचे के अनुसार जब आपके हृदय में ध्यान स्थिर हुआ, सुरत चरणों में भली प्रकार टिकी तो जो विभूति उनमें है, आपमें भली प्रकार प्रसारित हो जायेगी। गुरु किसी को शिष्य नहीं बनाता, वह जब किसी को अपनाता है तो गुरु ही बना देता है। '**नास्ति तत्त्वः गुरोर्परम्**'- जिसका कभी विनाश नहीं होता, उसी

में गुरु स्थित है। जब वही स्थिति शिष्य में संचारित हो गयी तो '**गुरु न चेला पुरुष अकेला**'– गुरु गुरुत्व देकर, शिष्य गुरुत्व पाकर गुरु-ऋण से उऋण हो जाता है। हाँ, इसके लिए श्रद्धान्वित भजन तो करना ही होगा।

अस्तु, ध्यान सद्गुरु के चरणों का है। इस ध्यान के प्रभाव से आपके हृदय में जागृति आ जायेगी। जहाँ श्रद्धा-भाव से किसी ने सद्गुरु का ध्यान पकड़ा, टूटी-फूटी सेवा जहाँ पार लगी तो हृदय में जिस परमात्मा की हमें चाह है, जिस सतह पर हम बैठे हैं, हमारी पुकार जहाँ कुछ उन्नत हुई, मनसमेत इन्द्रियों से जहाँ संयम की अवस्था आयी तुरन्त परमात्मा प्रसारित हो जाता है। अन्तःकरण में परमात्मा का अवतार प्रवाह झलकने लगता है, ईश्वर उभरने लगता है, अवतरित हो चलता है। उनके निर्देशन में चलने का नाम भजन है। परमात्मा की आज्ञा का पालन ही भजन है, इसीलिए भजन कहने और लिखने में नहीं आता। अनुभवी सद्गुरु के द्वारा किसी-किसी अधिकारी के हृदय में जागृत हो जाया करता है।

पूज्य गुरु महाराज के पास विश्वविद्यालयों के वाइस-चांसलर, रीडर, प्रोफेसर पहुँचते ही रहते थे। परिचय कराने वाले कहते– महाराज जी, दर्शनशास्त्र पर इनका पूरा अधिकार है। इन्होंने कबीर पर रिसर्च (शोध) किया नहीं बल्कि शोध-प्रबन्ध की जाँच कर डिग्री देते हैं। कुछ देर तक वे अपना बौद्धिक ज्ञान कहते किन्तु तदुपरान्त निवेदन करते कि महाराज! विश्व का दर्शनशास्त्र हमलोगों ने छान डाला किन्तु साधन समझ में नहीं आता, कृपा कर बतायें।

महाराज जी कहते थे, ''हो! सब बात सब कोई जानत है। दो-दो पैसे में वेदान्त बिकत है। (उन दिनों गीता प्रेस-गोरखपुर से गीता दो-दो पैसे में मिल जाती थी। महाराज जी का संकेत उसी ओर था।) लोग पढ़ते हैं और न जाने क्या लिखते भी जाते हैं; किन्तु साधन ही एक ऐसी वस्तु है जो लिखने में नहीं आती। उसे तो साधक के हृदय में भगवान ही पढ़ाते हैं।'' इस जागृति के पश्चात् ईश्वर के आदेश का पालन ही भजन है। उस आदेश में घट-बढ़ करने पर भगवान नाराज हो जाते हैं। इस जागृति के पूर्व हमें

केवल इतना करना है कि एक परमात्मा के प्रति दृढ़ संकल्प हो जायँ। क्षण में भूत-पूजा, क्षण में भवानी, क्षण में भुइयाँ रानी एक प्रवंचना के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हैं। क्योंकि ईश्वर एक से दो कभी हुआ नहीं इसलिए उस एक परम प्रभु के प्रति दृढ़ संकल्प हो जायँ।

इसके साथ ही उस परमात्मा का परिचायक दो या ढाई अक्षर का नाम– ॐ अथवा राम का जप आरम्भ करें। सतत् प्रार्थना करें कि प्रभु, हमें केवल आप चाहिए। उनसे कुछ न माँगे! मन में कहाँ क्षमता है कि कुछ सही माँग ले। मन और बुद्धि स्वयं नश्वर है तो शाश्वत को माँग कैसे लेंगे?

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

(रामचरितमानस, 3/14/3)

इन्द्रियों और इन्द्रियों के भोगों में जहाँ तक मन कल्पना कर सकता है, बुद्धि निर्णय ले सकती है '**सो सब माया जानेहु भाई।**'– वह सब-की-सब माया है, मायिक क्षेत्र का ही छोटा-बड़ा निर्णय है। भले ही आप उसका नाम अतीन्द्रिय ज्ञान रख लें या कुछ भी कह लें किन्तु वह नश्वरता का ही ज्ञान है। इसलिए भगवान से कुछ न माँगे। भगवान से केवल भगवान को ही माँग लें। उनका दर्शन माँगें। प्रभु आयेंगे तो प्रभु का सारा ऐश्वर्य आयेगा, उनका वातावरण आयेगा। प्रभु साथ हैं फिर कभी कोई कमी नहीं रहेगी। यही निष्काम कर्मयोग का रहस्य है।

इस समर्पण के साथ जो भजन में लग गया तो प्रभु जानते हैं कि इस भक्त को क्या चाहिए, वे देंगे। भविष्य में जो कुछ भी आपके लिए आवश्यक है जिसकी आपके मन में कल्पना भी नहीं है, उन सबकी व्यवस्था कर देंगे। आप जो भी माँगेंगे, वह भी देंगे और मोक्ष तो मिलना है ही; क्योंकि ईश्वर-पथ में बीज का नाश नहीं होता। इसलिए भजन करना है तो एक परमात्मा का कीजिए।

भजन के लिए चाहिए सद्गुरु; किन्तु आप दौड़कर किसी को गुरु न बना लें। उसके लिए भगवान से प्रार्थना करें, भगवान स्वयं सद्गुरु ढूँढ़कर छप्पर फाड़कर दे देंगे–

संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही।।

(रामचरितमानस, 7/68/7)

विशुद्ध संत उसी को मिलते हैं परम प्रभु राम जिसकी ओर करुणा कर देख लें। उनकी कारुणिक दृष्टि अपनी ओर झुकायें। उसके लिए एक प्रभु के प्रति समर्पित होकर सतत् प्रार्थना में लग जायँ। भगवान् शीघ्र ही करुणा करते हैं और जब वे द्रवित होते हैं तो सन्त सद्गुरु जहाँ जिस स्थिति में हैं, आपको बोध करा देते हैं–

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।।

(रामचरितमानस)

अरब में एक महापुरुष हुए थे। भगवान इण्डिया के, यूरोप के या किसी क्षेत्र-विशेष के नहीं होते। वह कण-कण में व्याप्त, सर्वत्र हैं। भू-भागों के नामकरण वैसे ही हैं जैसे हमने अपने गाँव में ही मेंड़ बाँध रखी है कि यह आपका खेत और यह हमारा! ऐसे ही लोगों ने संसार को बाँट रखा है कि यह जर्मनी है यह जापान, यह इण्डिया है वह पाकिस्तान! परमात्मा की दृष्टि में पृथ्वी एक छोटा-सा नक्षत्र है। इसलिए भूतल पर कोई कहीं भी भगवान को प्राप्त कर सकता है।

हाँ, तो अरब में येरूशलम में एक महात्मा मूसा हुए थे। हजरत मूसा में भगवान की विभूतियाँ जागृत थीं। लगभग इकतालीस वर्ष की अवस्था में भगवान ने उन्हें कुछ निर्देश दिये। एक बार वह जहाँ-तहाँ उपदेश देते हुए विचरण कर रहे थे। सड़क के किनारे एक युवक बैठकर परमात्मा की स्तुति कर रहा था। उसकी आँखों में अश्रु, हृदय द्रवित था। वह स्तुति में तल्लीन था। हजरत मूसा ने पीछे से सुना। उस युवक को बड़ी जोर से झिड़का– मूर्ख! तुम स्तुति को गलत पढ़ रहे हो, इस प्रकार उच्चारण शुद्ध करके पढ़ो। वह बेचारा काँप गया और लगा व्याकरण रटने। वह दुःखी हो गया कि प्रभु, हमने आपको गलत ढंग से पुकारा, मेरे इस अपराध के लिए आप कृपया क्षमा करें। मूसा को आकाशवाणी हुई– मूसा! मैंने तुझे इन जीवों का उद्धार

करने भेजा था, इन जीवों को मुझसे जोड़ने के लिए भेजा था न कि तोड़ने के लिए। पहले यह स्तुति कर रहा था, इसका मुझसे सीधा सम्बन्ध था, वह तो समाप्त हो गया। अब बेचारा भाषा रट रहा है। मूसा ने परमात्मा को साष्टांग दण्डवत् किया और लौटकर उस युवक से कहा– भाई! मुझसे भूल हुई! तुम जैसे पहले स्तुति कर रहे थे, वैसा ही करो। अस्तु, भगवान के यहाँ प्रेम चलता है, भाषा-व्याकरण या लच्छेदार बातें नहीं चलतीं।

हमारे पूज्य गुरु महाराज पार्थिव शिक्षा में निरक्षर थे किन्तु जब उनकी वाणी निकलती तो विद्वानों की विद्वता का कोई उपयोग नहीं रह जाता था। महाराज जी कहा करते थे– "हो, हम कहें आँखिन की देखी, तुम कहो कागज की लेखी; भला हमार तोहार मनवा एक कैसे हो?" ईश्वर-पथ आँखों देखा हाल है। भजन कैसे करें?– इस विषय में लोग केवल भाषा के द्वारा व्याकरण ही रटते हैं। संस्कृत को देववाणी कहा जाता है। इसका शुद्ध उच्चारण कर लेना ईश्वर-प्राप्ति का साधन नहीं है। बहुत से लोग व्रत-उपवास पर जोर देते हैं, बहुत-से लोग कुछ सब्जियों को त्याज्य मानते हैं, बहुत से लोग मूर्तियों के आगे-पीछे नियमावलियों का पालन करते हैं; किन्तु इनसे बहुत मतलब नहीं है। जैसा स्वयं परमात्मा ने भजन के लिए स्वयं निर्देश दिया है, हमें वैसे ही भजन करना चाहिए।

लोग कहते हैं कि ईश्वर का ध्यान धरें! ईश्वर को आपने देखा है? वह तो अमूर्त है, अरूप है। फिर ये मूर्तियाँ क्या हैं? समय-समय पर जो महापुरुष हुए हैं, सद्गुरु रहे हैं, परमात्म-भाव को प्राप्त हुए हैं– ये उनके चित्र हैं। कालान्तर में मन्दिर और मूर्तियों से जीविका चलने लगी तो अनेक कल्पित देवी-देवताओं का सृजन हो गया। कहीं भुँइया रानी, कहीं गड़बड़ा देवी, लाठियों से कोई मर गया तो एक ब्रह्म का नाम देकर अच्छी खासी पूजा आरम्भ कर देते हैं। एक सन्तोषी माई का नाम आधुनिक युग की देन है। मनुष्य को किसी न किसी प्रकार का असन्तोष रहता ही है। इस मनोवृत्ति का लाभ उठाकर चलचित्र वालों ने गणेश की पुत्री के रूप में सन्तोषी माँ का प्रचलन कर दिया। हमारे मीरजापुर जनपद में एक हाई माई हैं। एक पत्थर

में लाल रंग लगा दिया, पुजारियों की भीड़ लग गयी। पूजन का यह कोई तरीका नहीं है। अस्तु बहुत-सी मूर्तियाँ कल्पित हैं; किन्तु अनेकानेक मन्दिरों में समय-समय पर होने वाले महापुरुषों की प्रतिमाएँ हैं।

मूर्तियाँ आवश्यक हैं, उनका उपयोग है, उन्हें रखना भी चाहिए कि उन्होंने क्या किया? क्या पाया? ईश्वर रहता कहाँ है? उसे ढूँढ़ने का उपाय क्या है? उसकी विधि बताने के लिए, उनसे आशीर्वाद लेने के लिए, उनकी स्मृति सँजोने के लिए मूर्तियाँ लगायी जाती हैं यद्यपि दीर्घकाल बीतने पर लोग भूल जाते हैं कि ये मूर्तियाँ किसकी हैं, केवल एक परम्परा रह जाती है। सन्त रहीम कहते हैं–

जिन देखा सो कहा नहिं, कहा सो देखा नाहिं।
रहिमन अगम बात के, कहन सुनन को नाहिं॥

जिन्होंने देखा उन्होंने कहा ही नहीं। '**कह कबीर गूँगे की शक्कर, खाये सोई पै जाने।**'- शक्कर खाने पर गूँगा उसका स्वाद जानता है, सिर हिलाता है, प्रसन्न होता है किन्तु उसे मुख से व्यक्त नहीं कर सकता, उसके पास वाणी नहीं है। ठीक इसी प्रकार उन परमात्मा को जिन्होंने देखा, उन्होंने कहा ही नहीं; जो कहता है उसने अभी देखा नहीं। वह परमतत्त्व अगम्य है, अगोचर है, अचिन्त्य है। आप ही बतायें इन मूर्तियों का क्या अस्तित्व है? क्या इन पत्थरकटों को ज्ञात है कि भगवान कैसे हैं?

राजस्थान की राजधानी जयपुर महानगर शिल्पकारों का केन्द्र है। वहाँ के मूर्ति कलाकार करोड़ों रुपयों की मूर्तियाँ प्रतिदिन बेच लेते हैं क्योंकि वहाँ संगमरमर की खदानें हैं। आधी मूर्तियाँ चौराहों पर स्टेच्यू में काम आती हैं, शेष मन्दिरों में जाती हैं। क्या इन सबने परमात्मा को देखकर मूर्तियाँ तराशी हैं? इनमें से अधिकांश काल्पनिक हैं। इसीलिए ध्यान उसी का धरें जिसके लिए परमात्मा राम ने, भगवान श्रीकृष्ण ने, गोस्वामी तुलसीदास जी ने इंगित किया– ध्यान विश्वनाथ अर्थात् विश्व के जो स्वामी हैं ऐसे सद्गुरु के चरणों का, प्राप्ति परमात्मा की!

विश्व में बहुसंख्यक लोग ऐसे हैं कि जिन्हें मात्र उनके घर के ही लोग जानते हैं, बाहर के लोग उन्हें नहीं जानते। कुछ ऐसे भी लोग हैं जिन्हें पास-पड़ोस, गाँववाले अथवा मुहल्ला वाले जानते हैं। बहुतों को जिला जानता है, कुछेक ऐसे भी है जिन्हें सम्पूर्ण देश जानता है, ऐसे भी हैं जिन्हें पूरा विश्व जानता है। गुरुनानक कहते हैं– '**नवा खण्डा बिच जानिये, नाल चले सबु कोइ।**'- सम्पूर्ण जगत् जान ले कि इस नाम का कोई व्यक्ति संसार में है, लोग यह भी चाहते हैं कि सभी मेरे पीछे चलें। उसका कदम जिस ओर उठ गया, लाखों कदम उधर उठ गये; उसने जो कह दिया, विश्व के सभी समाचार-पत्र उसकी वार्त्ता प्रकाशित करने लगें, उसके पदचिह्नों को अनुसरण करने लगें और '**चंगा नाम धराइ के जसु कीरति जग लेइ।**'- अच्छे नाम, अच्छे पदक, ऊँचे कीर्तिमान, दुनिया में यश कीर्ति सब कुछ मिल जाय किन्तु '**जो तिसु नदरि न आवइ, ता बात न पूछे केइ।**'- यह सब कुछ प्राप्त हो जाने के बाद भी यदि व्यक्ति भगवान की निगाह के नीचे नहीं आया तो वह किसी काम का नहीं है, कुछ भी नहीं है। ईश्वर की कृपादृष्टि नहीं पड़ी तो यह सब व्यर्थ हैं क्योंकि संसार नश्वर है, इसकी उपलब्धियों का भी कोई अस्तित्व नहीं है। इस अस्तित्वविहीन संसार में जो प्रभु की शरण, उनकी निगाह के नीचे आ गया, उसका कभी विनाश नहीं होता। इसीलिए भजन किया जाता है और सबको करना भी चाहिए।

भजन में सहसा मन नहीं लगता किन्तु अभ्यास करते-करते एक स्तर ऐसा आता है कि भगवान की कृपादृष्टि हो जाती है जिससे भगवान का स्वभाव जानने में आ जाता है और जिसने भी प्रभु का स्वभाव जान लिया–

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना।।

(रामचरितमानस, 5/33/3)

उसे भजन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता। सृष्टि में ऐसा कोई पदार्थ नहीं कि उसे वहाँ से भटका कर खड़ा कर दे। कौन-सी कमी थी महात्मा बुद्ध के पास? इकलौता राजकुमार! राज्य का उत्तराधिकारी! पिता को

सन्देह हो गया कि कहीं यह साधु न हो जाय क्योंकि ज्योतिषियों ने कहा था– यह बालक चक्रवर्ती नरेश होगा या साधु! राजा उसकी सुख-सुविधा के प्रति सजग थे। बगीचे में ऐसे वृक्ष लगवाये जिसमें पतझड़ न हो। झड़ती हुई पत्तियों को देखकर इसे वैराग्य न हो जाय कि इसी की तरह संसार भी झूठा है, एक दिन इन्हीं पत्तियों की तरह मैं भी समाप्त हो जाऊँगा। राजकुमार के समक्ष कोई वयोवृद्ध, कोई रोगी न जाने पाय, कोई शव न दिखाई पड़े; कहीं इन्हें देखकर इसे वैराग्य न हो जाय। इन तमाम सतर्कताओं के होते हुए भी समय आने पर राजकुमार के समक्ष वृद्ध भी आया, रोगी भी और शव भी! राजकुमार चिन्तामग्न हो गये। अर्द्धरात्रि में उन्होंने गृहत्याग कर दिया और यह ढूँढ़ने निकल पड़े कि मृत्यु का कारण क्या है? सत्य क्या है? जीवन क्या है? क्या इतना ही जीवन है कि खाओ, पीओ और मर जाओ या इसके आगे कोई सत्य और भी है?

लोग कहते हैं भजन क्यों करें? सत्य की शोध करने के लिए, मौत से अपना बचाव करने के लिए, सहज सुख आत्मदर्शन की प्राप्ति के लिए भजन किया जाता है क्योंकि इस समय जो हमें-आपको प्राप्त है, उसका कोई भरोसा नहीं है। राजकुमार ने अपनी व्यवस्थाओं में कमी देखी, तुरन्त निकल पड़े।

गृहत्याग करना इतना आसान भी नहीं है। नवजात शिशु का मोह राजकुमार के समक्ष आया। चार-पाँच दिनों तक इस मोह से लड़ते रहे। अन्ततः उन्होंने विचार किया– जैसे मेरा जन्म हुआ था, वैसा ही इसका भी हुआ है। मेरे जन्म की तरह इसके जन्म पर भी वाद्ययन्त्र बजे। जैसे मैं युवा हुआ और जीर्ण हो जाऊँगा, वैसे ही यह भी होगा। जो दशा मेरी, वही मेरे पड़ोसी की और इस आत्मा की भी है। मैं अवश्य पता लगाऊँगा कि इन दुःखों का कारण क्या है? सहज सुख कहीं है भी या नहीं? इसी शोध के लिए बुद्ध निकल पड़े।

तत्कालीन राजा-महाराजाओं ने राजकुमार से बहुत आग्रह किया कि वह राज्य करें। मगध सम्राट विम्बिसार ने अनुरोध किया कि हमारा आधा

राज्य ले लें अथवा दान लेने से झिझक रहे हैं तो तलवार के बल पर आपके लिए राज्य स्थापित किये देते हैं। आप राज्य करने योग्य हैं, सुख भोगने योग्य हैं। यह उम्र तपस्या की नहीं है। किन्तु बुद्ध ने कहा– ''राजन्! मैंने किसी के भय से या राग-द्वेष के कारण गृहत्याग नहीं किया है। मैंने जानबूझकर यह जानने के लिए गृहत्याग किया है कि दुःख का कारण क्या है और शाश्वत सत्य क्या है? या तो मैं इसे जानूँगा या मृत्यु को प्राप्त होऊँगा। सृष्टि और यहाँ तक कि स्वर्ग में भी ऐसा कोई प्रलोभन नहीं है जो मुझे अपने लक्ष्य से विचलित कर दे।'' शीघ्र ही राजकुमार सिद्धार्थ को बुद्धत्व की प्राप्ति हुई, स्थिति मिली। उन्होंने बताया कि दुःखों का कारण है इच्छा! पाप के मूल में है कामनाएँ; जैसा आदिशास्त्र गीता में है– '**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।**' *(गीता, 3/37)*; '**विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।**' *(गीता, 5/28)*; **सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते।**' *(गीता, 6/4)*; '**निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इच्युच्यते तदा।**' *(गीता, 6/18)*।

सन्त कबीर कहते हैं–

इच्छा काया इच्छा माया, इच्छा जग उपजाया।
कह कबीर जे इच्छा विवर्जित, ता कहँ पार न पाया।।

इच्छा ही काया है, इच्छा ही माया है, इच्छा ने ही जगत् की सृष्टि की है। जिसने इस इच्छा का निरोध कर लिया, उसका पार कोई नहीं पा सकता; क्योंकि वह अपार अनन्त ब्रह्म में प्रवेशवाला हो जाता है इसलिए अपार स्थिति पा लेता है। सृष्टि के किसी पदार्थ से किसी की इच्छापूर्ति कभी नहीं हुई है। सांसारिक वस्तुएँ पके आम की तरह चार दिन में सड़कर समाप्त हो जाने वाली हैं। इससे इच्छा-तृप्ति कैसे होगी? जो हमने पाया वह नश्वर था। हमारे देखते-देखते उसे नष्ट होना है और हम भोक्ता को भी चले जाना है। भोग्य पदार्थ यहीं रह जायेगा और हमें भी उन्हें छोड़ जाना है। ऐसी परिस्थिति में इच्छा की पूर्ति परमात्मा दर्शन में है। आत्मदर्शन और आत्मस्थिति

के पश्चात् आगे कोई सत्ता ही नहीं जिसकी हम कामना करें। इच्छा भी करें तो किसकी करें! इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–

'**तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।**' *(गीता, 18/62)*

उसके कृपा-प्रसाद से तुम परम शान्ति प्राप्त कर लोगे और उस स्थान को पा जाओगे जो शाश्वत है। स्थान का आशय है घर! वहाँ आपका निवास शाश्वत होगा। क्या सृष्टि में ऐसी कोई ईंट बनी है जो शाश्वत हो? मकान लौह-इस्पात निर्मित हो तो भी क्या हुआ? क्या ये किले शाश्वत हैं जिनकी पचीसों फीट चौड़ी दीवारें हैं? श्रीकृष्ण कहते हैं शाश्वत है वह स्थान! साथ ही परमशान्ति रहेगी। आत्मदर्शन की स्थिति में यह उपलब्धि है; बीच में, रास्ते में न ऐसा घर मिलेगा न शान्ति! जो पुरुष साधना की पूर्तिकाल में, चित्त के निरोध और विलयकाल में जहाँ आत्मा विदित हो गयी, साधक आत्मा से ओतप्रोत है, आत्मा में स्थित और तृप्त है, उस पुरुष के लिए कोई भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है तो वह चाह भी किसकी करे? उससे भी बड़ी कोई वस्तु दिखायी दे तभी वह चाह करेगा किन्तु आगे कुछ है ही नहीं। यहाँ इच्छा का अन्त हो जाता है। ऐसे महापुरुष की इच्छा इच्छाशक्ति में परिवर्तित हो जाती है और ऐसी स्थितिवाला महापुरुष भक्तों की इच्छा के अनुसार सांसारिक वस्तुओं की इच्छा कर भी ले तो–

जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।

(रामचरितमानस, 7/113/4)

ऐसा महापुरुष किधर भी दृष्टि डाल दे, मन से इच्छा कर ले, किसी से कहे भी न तब भी '**हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।**'- भगवान के कृपा-प्रसाद का प्रभाव ऐसा रहता है कि उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है। आज उसने इच्छा की, कल उसके समक्ष उपस्थित हो जायेगा किन्तु पूर्णता से पूर्व साधक इच्छा कर बैठता है वह उसके लिए घातक है। वह इच्छा उसे साधना से भटका देगी क्योंकि '**इच्छा काया इच्छा माया**'- इच्छा ही संसार में भटकाने वाली है किन्तु परमात्मा से ओतप्रोत, तृप्त और स्थिति के पश्चात् योगी में कोई इच्छा आ ही गयी तो इधर इच्छा आई, उधर पूर्ति। वह उसकी

इच्छा नहीं है, हरि प्रेरित एक व्यवस्था है जिसके द्वारा इस स्तर के सन्तों की सेवा होती रहती है।

मनुष्य भजन में इसलिए प्रवृत्त होता है कि मैं अपने स्वरूप को प्राप्त कर लूँ, शाश्वत धाम पा जाऊँ, अनन्त जीवन पा लूँ, प्रकृति का भय समाप्त हो जाय और अपनी इच्छा की पूर्ण पूर्ति हो जाय। इसलिए भजन अनिवार्य है क्योंकि इस आत्मा का घर संसार में नहीं है।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥

(रामचरितमानस, 7/116/2-3)

परमात्मा अजर, अमर, अविनाशी है, सहज सुख की राशि है। उसी का विशुद्ध अंश जीवात्मा है। यह भी सहज सुख की राशि है, ईश्वर का अंश है। यह प्रकृति के किसी पदार्थ से तृप्त हो ही नहीं सकता। यह माया के वश में भटक रही है, अपने अंशी परमप्रभु परमपिता की गोद में जाने लिए सदैव छटपटाती रहती है इसलिए भजन अनिवार्य है। यह आत्मा की माँग है। जाने अनजाने सभी लोग उस शान्ति की शोध में तड़प रहे हैं। साधना भले न मिली हो, सभी प्रत्याशी अवश्य हैं। हर पुरुष श्रद्धा से खोज अवश्य रहा है किन्तु अभी तक जो भी खोजा, धोखा निकला। अनन्त, हजारों, चारों युगों तक की उमर मिली, गुरुनानक कहते हैं– धोखा ही निकला– '**जे जुग चारो आरजा और दहूणी होय।**' चार युगों इतनी लम्बी आयु, उससे भी दस गुनी आयुपर्यन्त जीने से भी क्या लाभ? यदि ईश्वर की कृपादृष्टि नहीं हुई तो सब व्यर्थ चला जाता है। जिसने अपनी आत्मा को प्राप्त कर लिया वह सदा शाश्वत शान्ति पा गया, अनन्त जीवन पा गया, अपना धाम पा गया जहाँ से पीछे लौटकर आवागमन नहीं है। अपने ही सहज स्वरूप की प्राप्ति के लिए, सम्पूर्ण इच्छाओं के अन्त के लिए, भली प्रकार तृप्ति के लिए भजन करना मनुष्य की अपरिहार्य माँग है।

!! बोलिये श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय !!

सृष्टि का आदिशास्त्र 'श्रीमद्भगवद्गीता'

प्रायः लोग इतना ही जानते हैं कि द्वापर युग में महाभारत के युद्धस्थल में शस्त्र चलने की तैयारी के समय भगवान श्रीकृष्ण ने अपने प्रियभक्त अर्जुन के प्रति गीता का उपदेश किया; जबकि इसके पूर्व बहुत कुछ कहने-लिखने में आ चुका था तो गीता सृष्टि का आदिशास्त्र कैसे है? स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रश्न को स्पष्ट किया है–

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत॥ *(गीता, 4/1)*

भगवान कहते हैं कि इस अविनाशी योग को मैंने सूर्य से कहा। सूर्य से इसे ही मनु ने, मनु से इक्ष्वाकु ने और इक्ष्वाकु से राजर्षियों ने जाना। इस महत्वपूर्ण काल से यह अविनाशी योग विस्मृत प्राय हो चला, वही तेरे प्रति कहने जा रहा हूँ। आरम्भ में इस अविनाशी योग का उपदेश भगवान ने सूर्य को किया था और भगवान ने उसी का उपदेश अर्जुन के प्रति किया। पहले भी भगवान ने ही कहा था और भगवान ने ही पुनः उसी को अर्जुन के प्रति कहा। गीता में वही ज्ञान होने से यह सृष्टि का आदिशास्त्र है।

हम-आप सभी मनुज हैं। मनुज माने मनु-पुत्र, मनु से जायमान, मनु की सन्तान! इस पृथ्वी पर कहीं भी मनुष्य का जन्म हुआ हो, वह मनु की वंशलता के अन्तर्गत है। मनु से ही मानव-सृष्टि चली है। उन महाराजा मनु को भगवान सूर्य से विरासत में गीता मिली थी इसलिए भी गीता सृष्टि का आदिशास्त्र है।

महाराजा मनु दीर्घजीवी थे। जीवन के उत्तरार्ध में उन्होंने एक प्रलय देखा। भगवान ने उनसे कहा– प्रलय होने वाला है किन्तु मैं तुम्हें बचा लूँगा। एक सुदृढ़ नाव में सृष्टि के बीज रख लो। प्रलय के समय मैं तुम्हें मत्स्य के

रूप में दिखायी दूँगा। मेरे शिर पर शृंग होगी। उस शृंग में नाव बाँध लेना। जहाँ नाव बँधी, मत्स्य भगवान के रूप में परिवर्तित हो गये और लगे उपदेश देने। भगवान के श्रीमुख से वेद प्रसारित होने लगा जो द्वापर में वर्णित गीता ज्ञान का विस्तार ही था। इस प्रकार वेद बाद में, मनु की वृद्धावस्था में मिले जबकि गीता उन्हें विरासत में, जन्म के साथ, होश सँभालने के साथ मिल गयी थी। इसलिए गीता आदिशास्त्र है।

विधाता ने भी वेद रचे थे। श्रीमद्भागवत तृतीय स्कंध के बारहवें अध्याय में है कि उन्होंने ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद रचा। इसी प्रकार उन्होंने आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और स्थापत्यवेद भी रचे। विधाता सृष्टि के रचयिता थे इसलिए उनके वेद में सृष्टि-संरचना तथा सामाजिक व्यवस्था का विवरण स्वाभाविक है। प्रलय में सृष्टि अर्थात् विधाता का कारखाना ही डूब गया। कोई काम न रह जाने से उन्हें तन्द्रा आ गयी। उसी समय हयग्रीव नामक एक असुर आया, विधाता का वेद उठा ले गया। भगवान ने असुर का वध किया और विधाता का वेद विधाता को दे दिया *(देखें– श्रीमद्भागवत, 8/24/61)*। किन्तु विशुद्ध वेद मत्स्य भगवान द्वारा प्रसारित वेद, जो अविदित तत्त्व को विदित करा दे, मोक्ष दिला दे – गीता है।

वेद ब्रह्माजी की रचना है किन्तु स्वयं ब्रह्मा जिसकी नाभिकमल से उत्पन्न हुए, उन्हीं भगवान के श्रीमुख का सीधा प्रसारण गीता है। इसलिए भी गीता आदिशास्त्र है।

विस्तृत विवरण हेतु आश्रम से प्रकाशित साहित्य देखें।

!! ॐ !!

'श्रीमद्भगवद्गीता' की साधना

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।। (१३/२२)

वह पुरुष **'उपद्रष्टा'**– हृदय-देश में बहुत ही समीप, हाथ-पाँव-मन जितना आपके समीप है उससे भी अधिक समीप द्रष्टा के रूप में स्थित है। उसके प्रकाश में आप भला करें, बुरा करें, उसे कोई प्रयोजन नहीं है। वह साक्षी के रूप में खड़ा है। साधना का सही क्रम पकड़ में आने पर पथिक कुछ ऊपर उठा, उसकी ओर बढ़ा तो द्रष्टा पुरुष का क्रम बदल जाता है, वह **'अनुमन्ता'**– अनुमति प्रदान करने लगता है, अनुभव देने लगता है। साधना द्वारा और समीप पहुँचने पर वही पुरुष **'भर्ता'** बनकर भरण-पोषण करने लगता है, जिसमें आपके योगक्षेम की भी व्यवस्था कर देता है। साधना और सूक्ष्म होने पर वही **'भोक्ता'** हो जाता है। **'भोक्तारं यज्ञ तपसाम्'**– यज्ञ, तप जो कुछ भी बन पड़ता है, सबको वह पुरुष ग्रहण करता है। और जब ग्रहण कर लेता है, उसके बाद वाली अवस्था में **'महेश्वरः'**– महान् ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है। वह प्रकृति का स्वामी बन जाता है; किन्तु अभी कहीं प्रकृति जीवित है तभी उसका मालिक है। इससे भी उन्नत अवस्था में वही पुरुष **'परमात्मेति चाप्युक्तो'**– जब परम से संयुक्त हो जाता है, तब परमात्मा कहलाता है। इस प्रकार शरीर में रहते हुए भी यह पुरुष आत्मा **'परः'** ही है, सर्वथा इस प्रकृति से परे ही है। अन्तर इतना ही है कि आरम्भ में यह द्रष्टा के रूप में था, क्रमशः उत्थान होते-होते परम का स्पर्श कर परमात्मा के रूप में परिणत हो जाता है।

– 'श्रीमद्भगवद्गीता' भाष्य 'यथार्थ गीता' से साभार

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास)
अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069 फोन - (022) 28255300
ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com